THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_178154
UNIVERSAL LIBRARY

iania University Library
G H
Accession No. 537
M
गुजराती २१५
आराधना लोक
should be returned on or before the date last

मेरी असफलताएँ

लेखक
गुलाबराय एम० ए०

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

प्रकाशक
महेन्द्र, सञ्चालक
साहित्य-रत्न-भण्डार,
सिविल-लाइन्स, आगरा ।

जनवरी १९४२
प्रथम संस्करण, १०००
मूल्य १)

मुद्रक
साहित्य-प्रेस,
सिविल-लाइन्स, आगरा ।

स्वर्गीय माताजी को

जिन से मुझे वाणी का प्रसाद मिला

कृतज्ञता-प्रकाशन

ये लेख सुधा, वीणा, हंस, कहानी, विशाल-भारत, समाज-, नोंक-झोंक में छप चुके हैं। उनके सम्पादकों का मैं आभारी हूँ।

—लेखक

दो शब्द—बकलम खुद

. युग साम्यवाद का है। व्यावहारिक रूप से तो नहीं, तक रूप से अवश्य गङ्गा तेली राजा भोज की बराबरी कता है। इसी समता-भाव के कारण, समाज के अभिशाप ाने वाले दीन-दलित, पतित और लांच्छित, अस्थिपञ्जरा-., जरा-जर्जरित, वैभव-विहीन मनुष्य भी आधुनिक काव्य ालम्बन बनते हैं। यदि मुझ जैसा कोई 'मति अति रङ्क, थ राऊ' व्यक्ति बिना किसी साधना और योग्यता के ्मा गान्धी, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर या राय बहादुर डाक्टर श्यामसुन्दरजी की भाँति आत्मकथा का नायक बन कर अपने को पाँचवाँ सवार गिने जाने की स्पर्धा रे तो सहृदय पाठकगण उसको युग की प्रवृत्ति का शिकार मझ दया और उदारता के साथ क्षमा करेंगे।

मेरे पास ख्यातनामा महापुरुषों के से कोई अमूल्य अनुभव, ानीतिक रहस्य, साहित्यिक सेवाएँ, जीवन-आदर्श और ार्मिक एवं नैतिक सिद्धान्त बतलाने को नहीं हैं, फिर मैं अपने ठकों का धन और समय क्यों नष्ट करूँ? 'मन्दः कवि यशः र्थी गमिष्याम्युपाहस्यताम्'। उपहास में भी मेरी लक्ष्य-सिद्धि है।

फारसी में एक हिकायत है कि एक अक्लमन्द से किसी ने ा कि आपने अक्लमन्दी किससे सीखी? उत्तर मिला—ज बेवकूफ़ाँ' अर्थात् मूर्खों से। ठीक इसी भाव को रख कर

आप लोग भी मेरी पुस्तक से लाभ उठा सकेंगे। मुझे इतना ही खेद है कि बेवकूफी करने में मैं अपने शिकारपुरी मित्र की भाँति फर्स्ट डिवीजन न पा सकूँगा। इस क्षेत्र में भी मैं साधारण (Mediocre) से ऊँचा नहीं उठ सका हूँ। मुझे अपने मिडियोकर होने पर गर्व है क्योंकि उसमें मेरे बहुत से साथी हैं। 'मर्ग अम्बोह जश्न दारद' अर्थात् बहुत से लोगों की एक साथ मृत्यु, उत्सव का रूप धारण कर लेती है। खैर मैं अपनी समाज-प्रियता में इस सीमा तक तो न जाऊँगा, लेकिन सबसे आगे जाकर अकेला रहना मुझे रुचिकर नहीं। 'दिल के बहलाने को गालिब यह ख्याल अच्छा है'।

वैसे तो 'निज कवित्त' की भाँति 'निज चरित्र केहि लाग न नीका, सरस होउ अथवा अति फीका' किन्तु मैं अपने गुण-दोषों से भली भाँति परिचित हूँ और फीके को सरस बतलाने का साहस नहीं कर सकता। बड़े आदमियों के चरित्र में इतनी बड़ी-बड़ी बातें रहती हैं कि उनके लिए किसी को कवि बना देना 'सहज सम्भाव्य' है। मुझमें तो वे बातें कोसों दूर हैं। वे शायद मेरे उच्छृङ्खलतम स्वप्नों के क्षेत्र से भी बाहर हैं। किन्तु मुझे अपने तुच्छ जीवन में कुछ हास्य और मनोरञ्जन की सामग्री मिली है, उसको आपके सामने रखने का मोह संवरण नहीं कर सकता। मैं रत्नों से तो नहीं, काँच की मणियों से आपका मनोरञ्जन करना चाहता हूँ। आप सच्चे वेदान्तियों की भाँति कञ्चन को मिट्टी न समझ कर मिट्टी में कञ्चन देखिए।

आत्मकथा-लेखक के दो व्यक्तित्व होते हैं, एक चरित्रनायक का, दूसरा लेखक का। इसमें चरित्रनायक के व्यक्तित्व में कोई आकर्षण नहीं। लेखक के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यदि 'आपुन करनी, भाँति बहु बरनी' की बात न समझी जाय तो, मैं कहूँगा कि इसमें साहित्यिक हास्य का काफी मसाला मिलेगा। जो लोग

इसमें धौल-धप्पे का और हू-हक का हास्य देखना चाहेंगे, उनको शायद निराश होना पड़े।

मैंने आप लोगों के मनोरञ्जन के लिए स्वयं अपने को ही बलि का बकरा बनाया है। यदि मेरे साथ दो-एक और सज्जन भी लपेटे में आ गये हैं तो उनसे मैं हार्दिक क्षमा चाहता हूँ। मैं अपने जीवन की असफलताओं पर स्वयं हँसा हूँ यदि आप इस पुण्य-कार्य में मेरा सहयोग देंगे तो मैं अपनी असफलताओं के वर्णन में अपने को सफल समझूँगा। मुझे अपने पाठकों की सहृदयता में विश्वास है। भवभूति की तरह शायद मुझे यह न कहना पड़े कि 'उत्पत्स्यते ममतु कोऽपि समानधर्मा कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।' जब लोग बिना निमन्त्रण के ही हँसने को तैयार रहते हैं तब वे इस सादर निमन्त्रण की अवहेलना न करेंगे—ऐसी मुझे आशा है। यदि मैं बुधजनों की अथवा अबुध जनों की भी प्रसन्नता का साधन बन सकूँ तो अपने को धन्य मानूँगा।

'जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बाद बालकवि करहीं॥'

गोमती-निवास, आगरा।
मकर संक्रान्ति १९९८

गुलाबराय

विषय-सूची

१—बालस्तावत् क्रीड़ासक्तः	....	....	१
२—मार्शल लॉ ...	....	....	७
३—उसे न भूलूँगा	....	...	१६
४—नमो गुरुदेवेभ्यो	....	....	२३
५—सेवा के पथ पर	....	....	४०
६—सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः		...	५०
७—सर का मूल्य	...	....	५९
८—पट-परिवर्तन ...	....	...	६९
९—मेरा मकान	....	....	७९
१०—हानि-लाभ का लेखा-जोखा	....	....	८९
११—नर से नारायण...	....	...	९९
१२—आप बीती	....	....	११०
१३—खट्टे अंगूर ...	....	....	११८
१४—श्रीरामजी-प्रीत्यर्थं	....	...	१२६
१५—एक स्केच	....	...	१३९
१६—शैल शिखिर पर	....	....	१४४
१७—ठोक-पीट कर लेखकराज—१	....	....	१५३
१८—ठोक-पीट कर लेखकराज—२	....	....	१५९
१९—ठोक-पीट कर लेखकराज—३	...	....	१६३
२०—परिशिष्ट १—चोरी : कला के रूप में		...	१६८
२१—परिशिष्ट २—कम्पोजीटर स्त्रोत्र		....	१७३

बालस्तावत् क्रीड़ासक्तः

(जब मैं बालक था)

यद्यपि मेरी बहुत सी चीजों की भांति मेरी जन्म-पत्री ला-पता है तथापि यदि आप मेरा विश्वास करें तो मेरे जीवन की सब से बड़ी असफलता यह थी कि मैंने वसन्त-पञ्चमी* से एक दिन पहले इस पृथ्वी को भाराक्रान्त किया। मेरे जीवन का श्रीगणेश ही कुछ गलत हुआ किन्तु इतना सन्तोष है कि पीछे आने की अपेक्षा आगे आना श्रेयस्कर है। इसमें अग्रदूत कहे जाने की सम्भावना रहती है। यदि;मैं बड़ा आदमी होता और यदि मेरा जीवन-वृत्त किसी सच्चे या झूठे भक्त ने लिखा होता तो वह ऐसी ही बात कह देता।

मेरा जन्म इटावे में हुआ था। मुहल्ले का तो नाम सुना है उसे छपैटी कहते हैं, लेकिन उस घर का पता नहीं लगा सका जिसमें मेरा जन्म हुआ था। यह प्रयत्न अपने को महत्ता देने के

*संवत् १९४४

कारण नहीं वरन् शुद्ध कौतूहल और मनोविनोद के लिए किया गया था। मेरे पूज्य पिताजी (बाबू भवानी प्रसाद) इटावे में नौकर थे। वहाँ से उनकी बदली होने पर मैं ढाई वर्ष की आयु में मैनपुरी लाया गया। मैनपुरी के लोग धोकेबाज कहे जाते हैं मुझे इसका निजी अनुभव तो नहीं है किन्तु उसके सम्बन्ध में जनश्रुति यह है मैनपुरी बगल में छुरी खायँ सतुआ बतावें पुरी उसका कुछ अच्छा भी इतिहास है। (उसके पास धारानगरी है जिसे धारऊ कहते हैं) वह मुझे याद नहीं। मैं हंस तो हूँ नहीं जो 'पय पियय परिहरि बारि विकार'। मेरा मन तो विकार की ओर ही अधिक जाता है। अस्तु इसी नगरी में बाल्यकाल बीता। इसके लिए मैं लज्जित भी नहीं क्योंकि भारत की मोक्षदायिनी सप्त पुरियों में अग्रगण्य काशी के सम्बन्ध में भी जनश्रुति कुछ अच्छी नहीं है: जनश्रुति तो क्या ? श्रुति सम्मत हरिभक्तिपथ के अनुगामी, धर्म-भीरु बाबा तुलसीदास जी ने काशी के सम्बन्ध में स्वयं कहा है 'बासर ठासन के ठका रजनी चहुँ दिस चोर' फिर बिचारी मैनपुरी किस गिनती में है।

इटावे के जीवन के सम्बन्ध में मेरा स्मृति-पटल बिलकुल कोरा है, यदि दार्शनिक शब्दावली का व्यवहार करूँ तो वह टेब्युला राजा (Tabula Rasa) है इसका अर्थ भी कोरी पट्टी है। मैनपुरी के प्रारम्भिक जीवन की कुछ धुंधली सी स्मृति है, जैसी कभी-कभी भूत-विद्यावादी फ़ोटोग्राफरों की तसवीरों में किसी प्रेतात्मा की छाया आजाती है। उस रूप-रेखा-विहीन स्मृति को देखते हुए मैं कह सकता हूँ कि लोग यदि पूर्व जन्म की बातें भूल जाते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। सम्भव है कि मेरे प्रारम्भिक जीवन में कोई आकर्षक बात न रही हो। फ्रॉयड साहब यदि जिन्दा होते तो यही व्याख्या देते। अदालत के सत्यमूर्ति सत्यावतार गवाह की तो जो सत्य, पूर्ण सत्य और सत्य के

अतिरिक्त और कुछ न कहने की शपथ खाता है (और न जाने क्या-क्या खाता हूं ?) मैं प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता, मैं गंगा तुलसी भी नहीं उठाऊंगा (अधार्मिक होते हुए भी दोनों का आदर करता हूँ) और न मैं मुँह में सोना डाले हुए हूँ किन्तु स्मृति को कल्पना से यथासम्भव अनिरंजित न करूँगा ।

हमलोग एक ब्राह्मणी बुढ़िया के घर के दूसरे भाग में रहते थे, उसका नाम था दिवारी की मा । मैं अपेक्षाकृत अभावों की दुनिया में पला था । 'चाहिए अमी जुरै न छाछी' की तो बात न थी, न तो मेरी महत्वाकांक्षाएं ही बढ़ी हुई थीं और न सुविधाओं का नितान्त अभाव था; फिर भी मैं उन बालकों में से न था जो गर्व से कह सकें कि मेरा जन्म सम्पन्न घराने में हुआ था 'I was born with a Silver spoon in my mouth' मेरे यहाँ चाँदी का चम्मच तो क्या पीतल का भी न होगा । यदि मुझको ऊपरी दूध भी मिल गया हो तो सिपी से, जो मोती की जन्मदात्री है । खैर, मुझे गरीबी के कारण कभी-कभी रसना का संयम करना पड़ता था । दिवारी आलू-कचालू की चाट बेचा करता था । मुझे याद है कि मैं एक बार चाट के लिए मचला था, दिवारी को पड़ोसी-धर्म और मैत्री-धर्म का उपदेश दिया था, माता से पैसे के लिए अनुनय-विनय की और फिर कहीं अपनी रुचि की तृप्ति कर सका था । अच्छे खाने की कमजोरी श्रवण समीप ही नहीं सारे बाल सफेद प्राय: हो जाने पर भी बनी हुई है । उस घर की बाल-क्रीड़ाओं में अंधे बनकर चलने और चाई-माई खेलने की मुझे स्पष्ट स्मृति है । इस बात को अपनी माताजी से बार-बार उल्लेख सुनने से उसकी स्मृति और भी उभार में आ गई थी ।

घर का वातावरण धार्मिक था । माताजी सूर और कबीर के पद गाया करती थीं । मुझ पर प्रह्लाद की कथा का बड़ा

प्रभाव था। मुझे पूरा विश्वास था कि 'राम कृपा कछु दुर्लभ नाहीं' बिल्ली के बच्चे अवश्य कुम्हार के अवे में जिन्दा बच गये होंगे—होंगे क्यों कहूँ—थे कहना सत्य के अधिक निकट होगा। एक बार पड़ोस में जाकर एक कुम्हार से पूँछा भी था कि क्या वह बिल्ली जो उसके पास बैठी हुई थी अवे में से निकली थी। 'तो में मो में खड़ग खम्ब में' राम का अस्तित्व बताने में मुझे प्रसन्नता होती थी। 'कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारं' भगवान शिव को और 'शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं' ठाकुरजी को श्रद्धा-भक्ति पूर्वक दण्डवत करने में परमानन्द का अनुभव करता था। उत्तरकालीन बुद्धिवाद ने उस आनन्द को मिट्टी में मिलाकर अभी तक मुझे कोई ऐसी वस्तु नहीं दी है जिसके कारण मैं सांसारिक सुखों और महत्वाकांक्षाओं को भूल जाऊँ और इधर-उधर न भटकूँ। हाँ मेरी वह विनय अब इधर-उधर बिखर गई है। अब तो मैं सभी को 'सियाराम मय' जानकर 'जोर-जुग पाणी' प्रणाम करता हूँ लेकिन जिनसे कुछ स्वार्थ है उन्हीं के प्रति यह बुद्धि अधिक रहती है। 'छोटे मुँह बड़ी बातें' कहना मुझे बहुत प्रिय था और इस कारण मैं प्रायः मूर्ख भी बन जाता था। मैं समझता था कि जिस प्रकार सरसों से तेल निकलता है उसी प्रकार गेहूँ से घी निकलता है क्योंकि गेहूँ सरसों से अधिक कीमती होता है। भेड़िए को मैं भेड़ का बच्चा कहा करता था।

मेरे पड़ोस में एक बढ़ई महाशय रहते थे उनका नाम था सुखराम। वे बड़े धार्मिक थे। वे शायद अब भी जीवित हैं। पिछली बार जब मैं मैनपुरी गया था तब उन्होंने कहा था 'कल्लि के लला बूढ़े हुइ गये'। उनके चबूतरे पर नीम के नीचे रामायण सुनना मुझे बड़ा अच्छा लगता था। लोग कहते थे कि मैं बड़ा भक्त बनूँगा लेकिन बड़ा होकर मैंने उनकी आशाओं

पर पानी फेर दिया। फिर भी उसका असर अब भी कुछ बाकी है धार्मिक बातों का मैं आदर करता हूँ। खेल-कूद में विशेष रुचि न थी किन्तु उसके नाम से बिलकुल अछूता न था क्योंकि खेल-कूद के पक्ष में जो बातें कही जाती थीं वे मुझे अच्छी लगती थीं। उनमें से दो बातें अब भी याद हैं। 'ओनामासी धङ्ग बाप पढ़े ना हम' (उस समय मैं यह नहीं जानता था कि "ओनामासी धङ्ग जैनियों की देन है ('ॐ नमः सिद्धाणं') 'खेलोगे कूदोगे होगे नवाब, पढ़ोगे लिखोगे होगे खराब'। धार्मिक होते हुए पढ़ने-लिखने से मैं जी चुराता था अवश्य लेकिन बहुत नहीं। मुझे कभी कोई घसीट कर मदर्से नहीं ले गया।

खेल कई किस्म के होते हैं। उनमें वे खेल मुझे पसंद नहीं थे जो दो चार बालक मिल कर खेलते हों। इसका कारण यह था कि मेरे और छोटे भाई-बहन नहीं थे। इसलिए एकांत के खेल अच्छे लगते थे। जैसे कागज के आदमी या जानवर बनाना। एक बार मैंने अपने पिता के एक मित्र के नुसखे का आदमी बना दिया, बड़ी डाट-फटकार पड़ी। दियासलाई के बक्सों की रेल बनाना आदि के खेल अच्छे लगते थे। अपने पड़ौसी मिस्त्रीजी के यहाँ से लकड़ी की गिट्टक बटोर लाता था और उनके पुल बनाता था। मुझे बैठे रहना अधिक पसंद था, जब जबरदस्ती भगाया जाता था तभी भागता था। स्वास्थ्य के बारे में मेरे पिताजी अधिक सचेत रहते थे किंतु खराबी यह थी कि स्कूल के सबक की तरह ही भाग-दौड़ का काम मुझ से लिया जाता था। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है मैं स्वयं आंख मीच कर चलना और चाई–नाई फिरना अधिक पसंद करता था। कभी अंधा बन कर भीख मांगने का भी अभिनय करता था। एक बार मैं ननसाल गया हुआ था, वहां वास्तव में लाड़-प्यार में पढ़ना, लिखना भूल गया था। मेरे पिता जी ने लिखा

कि तुमने वहां पढ़ना-लिखना तो ताक में रख दिया होगा। उसका अर्थ मैं यह समझा था कि मेरा बस्ता तिखाल में रक्खा है। मैंने अपनी माता से पूछा कि बस्ता तिखाल में न रक्खूँ तो क्या खूँटी से लटकाऊँ?

पढ़ने-लिखने के सम्बंध में यह कह सकता हूँ कि पढ़ने में तो मुझको रुचि थी लिखने में नहीं। मेरे पिताजी ने मेरे पढ़ाने में बहुत दिलचस्पी ली। उन्होंने मेरी कई बुरी आदतों को उँगलियों पर पैन्सिल मार-मार कर, जबरदस्ती छुड़ाया। मैं उँगलियों पर गिना करता था। उँगलियों पर गिनने से मन में जोड़ लगाना नहीं आता। खराब लिखने पर मैं बहुत पिटा हूँ। खराब लिखना तो नहीं छूटा लेकिन हरफ कुछ स्पष्ट लिखने लगा था। उन दिनों ताड़ना का अधिक महत्त्व था। ताड़ना की एक खराबी तो रही कि जितना शरीर स्वस्थ बालक को बनना चाहिए था उतना नहीं बना लेकिन उसके साथ कई गुण भी आये। वे यह कि पराई चीज न लो। और दूसरों का आदर करना।

मार्शल लॉ

(मेरी प्रारम्भिक शिक्षा)

यद्यपि उन दिनों प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने का या निरक्षरता-निवारण का कोई आन्दोलन नहीं चल रहा था तब भी मैं घर बैठकर मौज न उड़ा सका। पढ़े-लिखे घरों में तो शायद विद्यारम्भ-संस्कार उतना ही जरूरी है जितना कि विवाह, शायद उससे भी ज्यादह क्योंकि विवाह का बन्धन कुछ दिन टल भी जाता है लेकिन शिक्षालय का जेलखाना तो बच्चे के खेलने-खाने के दिनों में ही तय्यार कर दिया जाता है। विद्यानिधि भगवान् रामचन्द्र और कलानिधि भगवान् कृष्ण को भी गुरु-गृह जाकर विद्याओं और कलाओं के अध्ययन की खानापूरी करनी पड़ी थी। यदि आपको विश्वास न हो तो बाबा तुलसीदासजी का प्रमाण दे सकता हूँ 'गुरु गृह पढ़न गये रघुराई' अगर आप बहुत झगड़ा करेंगे तो श्रीमद्भागवत का भी प्रमाण दे दूँगा। कृष्ण भगवान ने चौसठ दिनों में चौसठ कलाएँ सीखी थीं। सान्दीपन मुनि का नाम तो उनके शिष्य के कारण ही अमर हुआ।

मेरे पिता सरकारी नौकर थे। उर्दू से उन्हें द्वेष न था। इतना ही नहीं, वे उसका पढ़ना जरूरी समझते थे क्योंकि उन दिनों बिना उर्दू-ज्ञान के पास-पोर्ट के सरकारी नौकरी के क्षेत्र

में प्रवेश करना असम्भव-सा था। तो भी कुछ धार्मिक संस्कार के कारण मेरी शिक्षा का प्रारम्भ 'बिस्मिल्ला हिर्रहमानुर्रहीम' से नहीं हुआ। पगड़ी-अँगरखे से सुसज्जित एक पण्डितजी आये। उनका नाम पण्डित लालमणि था। वे अपने नाम के आगे शर्मा वर्मा कुछ नहीं लिखते थे। 'विद्यारम्भे विवाहे च' के अनुसार उन्होंने गणेशजी के बारह नामों का उच्चारण किया। मुझसे हाथ पकड़कर 'श्रीगणेशाय नमः' लिखाया गया। उस समय में चित्र-लिपि की बात तो नहीं जानता था, लेकिन मेरा विश्वास हो गया था कि श्री का सम्बन्ध गणेशजी की मूर्ति से है। श्री में भी एक सूँड़ सी रहती है।

अक्षरारम्भ कुछ घर पर हुआ, कुछ पाठशाला में। मुझे मालूम नहीं अक्षर-ज्ञान कराने में किसको कितना श्रेय है। हाँ, इतना अवश्य याद है कि मुझे कोई किताब नहीं दी गई थी। पट्टी पर बुद्दके से लिखना चाहे उतना वैज्ञानिक और कलात्मक न हो जितना कि अनार और अमरूद से 'अ' का बोध कराना, किन्तु मेरा विश्वास है कि लिखने में हाथ की पेशियों का अक्षरों के आकार से परिचित हो जाना अक्षर-बोध में अधिक सहायक होता है। उस पाठशाला में एक लड़का था, जिसको टीकू कहते थे। 'माया के तीन नाम परसा, परसी, परसराम' वाली बात के अनुसार विकास-क्रम में टीकू उसके नाम की दूसरी ही श्रेणी थी, अभी वह टीकाराम नहीं बन सका था। वह रामायण अच्छी पढ़ता था। उस समय उसकी तरह से रामायण पढ़ लेना, मेरी शिक्षा-सम्बन्धी महत्वाकांक्षाओं की चरम सीमा थी। खेद है कि उस उच्चतम शिखर की छांह तक नहीं छू पाया हूँ।

पाठशालाएँ उस समय भी पिछड़ चुकी थीं। तहसीली स्कूलों और मकतबों का बोल-बाला था। जब तक पाठशाला में पढ़ा तब तक तो मेरे ऊपर दण्ड-विधान लागू नहीं हुआ, शायद तब

तक 'पञ्चवर्षाणि लालयेत्' की बात चल रही थी; यद्यपि उस समय मेरी उम्र शायद छः वर्ष की हो गई थी लेकिन तहसीली स्कूल में आते ही दण्ड-विधान दावे के साथ शुरू हुआ। रवि बाबू ने अपने प्रारंभिक शिक्षकों की तुलना गुलाम बादशाहों के शासन से की थी। मैं उनको गुलाम कहने की धृष्टता नहीं करूँगा। रवि बाबू बड़े हैं, समर्थ हैं—'समरथ को नहिं दोष गुसाईं, रवि, पावक, सरिता की नाईं'—लेकिन मैं इतना अवश्य कहूँगा कि वे दण्डधारी अवश्य थे। वे सन्यासी तो थे नहीं (क्योंकि वे कमण्डल नहीं धारण करते थे) इसलिए वे राजा ही थे। मालूम नहीं रामराज्य में उस्ताद लोग दण्ड का प्रयोग करते थे या नहीं। मुझे बाबा तुलसीदासजी की 'दण्ड जतिन कर' वाली उक्ति में संदेह है। उस जमाने में भी शायद उस्ताद लोग दण्डधारी होते होंगे। अस्तु, स्कूली दण्ड-विधान में कान पकड़ कर उठाना-बैठाना तो शायद रहमदिली का परिचय देना था। उस समय के अध्यापकों का दिमाग़ सज़ा के प्रकार सोचने में यूरोप के इन्क्विज़िशन (Inquisition) वालों से कुछ कम न था। एक अध्यापक महोदय ने तो एक किवाड़ को जोर से घुमाकर मेरे सर में मार कर अपनी उर्वरा बुद्धि का परिचय दिया था। कहीं उँगलियों में कलमें दबाते थे तो कहीं पेड़ से लटका देते थे। मुर्गा बनाना भी उस विधान की एक धारा में था रूल डण्डा तो उन लोगों का चलता था जो लकीर के फकीर थे या अधिक प्रतिभावान न थे। पुलिस वाले भी इन विधियों में से कुछ का प्रयोग करते हैं। यह मैं नहीं कह सकता कि वे पुलिस वालों ने शिक्षा-विभाग से सीखीं या शिक्षा-विभाग ने पुलिस से। यह ऐतिहासिक अनुसंधान का विषय है—और इस पर सहज ही में किसी को डाक्टर की पदवी मिल सकती है। जब स्वयं पितृदेव 'लालने बहुवः दोषाः ताड़ने बहुवः गुणाः' में विश्वास

रखते थे तब अध्यापकों का क्या कहना है ? मेरे पिताजी के हुक्के की निगाली की कई बार मेरे पृष्ठ भाग पर परीक्षा हुई। वह पोली लकड़ी मेरे दधीच की हड्डियों से स्पर्धा करने वाले मेरे मेरु-नाल का क्या मुकाबला करती ? तिस पर भी मेरा लिखना न सुधरा और न हिज्जे ही दुरुस्त हुए। फारसी में सौ में पैंसठ नंबर प्राप्त करने पर भी फारसी 'स्वाद' से लिखता था। अब भी मुझे मामूली शब्दों के लिए डिक्शनरी की शरण लेनी पड़ती है।

झूठ बोलने पर मैंने बहुत मार खाई है। झूठ मैं शरारत करने के लिए नहीं बोलता था। शरारत मुझसे बहुत दूर थी उस कठोर शासन में शरारत के लिए गुञ्जायश कहाँ ? किन्तु उस समय छोटे से संसार की समस्याएँ इतनी जटिल थीं कि बिना झूठ बोले उनका सुलझाना मुश्किल हो जाता था। बेत का भय ही झूठ का जनक था। बहुत कोशिश करने पर भी मैं खुशखती की कापियाँ न लिख पाता था, फिर झूठ के सिवा और क्या चारा था ? यही कारण है कि मैं महात्मा गांधी न बन सका।

तहसीली स्कूल के पश्चात मैं अङ्गरेजी शिक्षा के लिए जिला स्कूल में भर्ती हुआ। वहाँ अँग्रेजी के साथ उर्दू दिलाई गई अँग्रेजी की अतिरिक्त शिक्षा पिताजी ने दी और उर्दू की अतिरिक्त शिक्षा के लिए मकतब जाना पड़ा। मेरे पिताजी को कन्ज्यूगेशन आफ वर्ब्स (क्रियाओं का भूत भविष्य और वर्तमान-कालीन रूप और पुरुष याद करना) में बहुत विश्वास था। अंग्रेजी तो मैं अब पहले से कुछ अच्छी बोल लेता हूँ लेकिन अब मैं एक साथ tense (लकार या काल) नहीं गिना सकता। उन्होंने 'होना' (verb to be) का कञ्जुगेशन याद कराया था। कोई-कोई verb to love का भी कञ्जुगेशन पढ़ाते थे (शायद verb to be (मैं-हूँ मैं-हूँ) का मन्त्र रटने के कारण ही यह व्याधि-मन्दिर-शरीर अभी तक डटा हुआ है।) इसका

फल यह हुआ था कि मैं पाँचवी छठी जमात में ही अंग्रेजी बोलने लग गयाथा। इस कारण अंग्रेज हैडमास्टर थोड़े खुश हो गये थे (मैं पीछे से मिशन स्कूल में पढ़ने लग गया था) और कभी कभी मैं बेंत की ताड़ना से बच भी जाता था।

मेरे मौलवियों में दो को छोड़कर और सब मार्शल ला में विश्वास रखते थे। मौलवी मियाँदाद खाँ जवान थे और इसलिए उनकी मार में भी जवानी का जोश था।

उर्दू मैंने डायरेक्ट मैथड (direct method) से पढ़ी पहले मैं सबक रटकर याद कर लेता था। पीछे से मुझे अक्षर-बोध हुआ। जिस दरजे में भरती हुआ उसमें अलिफ बे नहीं पढ़ाई जाती थी। अलिफ बे लिखना आ गया, फिर तख्ती की लिखाई शुरू हुई। तख्ती की लिखाई की बदौलत मुझे फारसी की एक बेत का मिसरा अब भी याद है, 'कलम गोयद कि मन शाहे जहानम्' शायद उसी के उपचेतना में (Subconscious) रह जाने के कारण मैंने लेखक-वृत्ति धारण की है और यद्यपि बहुत ऊँचे तो नहीं पहुँचा, पर पददलित भी नहीं हुआ।

मौलवी नवाब खाँ अत्तारी की दुकान करते थे। मैं उनकी दुकान पर पढ़ने जाया करता था। जब स्याही का पानी चुक जाता था तब वे अर्क गुलाब, अर्क बादियाँ या अर्क गाजबाँ डाल दिया करते थे। मौलवी असदुल्ला खा भी बड़े नेक थे। उन्होंने फारसी के व्याकरण पर मेरी बड़ी श्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। मैंने आठवें दर्जे तक फारसी पढ़ी। नवे दर्जे में जब अरबी पढ़ने का सवाल आया तब मैं घबरा उठा। उस समय मैं यह नहीं जानता था कि फारसी आर्येन भाषा वर्ग में है और अरबी सेमेटिक वर्ग में—लेकिन अरबी मुझे अपनी प्रकृति के विरुद्ध लगी। मेरा वैसा गला न था जैसा अरबी पढ़ने वालों का होता है। प्रश्न यह हुआ कि साइंस लूँ या सँस्कृत। दोनों में मेरी समान

रुचि थी, क्योंकि दोनों का सम्बंध सरस सकार से था। साइन्स पिताजी ने नास्तिक हो जाने के भय से नहीं लेने दी। संस्कृत ली, और खुशी से ली—मेरे संस्कृत के अध्यापक थे पण्डित गिरिजाशंकर मिश्र (वे शायद अब भी जीवित हैं) यद्यपि वे भौगाँव के निवासी थे (तब मैं मैनपुरी में पढ़ता था) तथापि बड़े प्रतिभाशाली थे। आर्यसमाजी पण्डितों से मोर्चा लेने की वे ही योग्यता रखते थे। जिस प्रकार नया मुसलमान अल्ला ही अल्ला पुकारता है, मैं भी समय-कुसमय 'मया त्वया' की संस्कृत बोलने लग गया। अपनी संस्कृत के पीछे मैंने दो पंडितों में शास्त्रार्थ करा दिया। एक मेरे प्रयोग को अशुद्ध बताते थे और दूसरे सही। भूतकाल के स्थान पर मेरे वर्तमानकालिक प्रयोग को उन्होंने ठीक बतलाया। जिन पंडित ने मेरा प्रयोग अशुद्ध बताया था, उन बिचारों का स्वर्गवास हो गया है। (हालाँकि इस मामले में मेरा जरा हाथ नहीं) और जिन्होंने मेरा प्रयोग ठीक बतलाया वे जीवित हैं। संस्कृत ले लेने के कारण मौलवी साहब ने मेरा नाम 'विभीषण' रख छोड़ा था। मैं उनसे कह देता था कि अगर आप रावण बनते हैं तो मुझे विभीषण बनने में कोई ऐतराज नहीं। वास्तव में वे बड़े सज्जन थे।

ऐन्ट्रेन्स की शिक्षा में मेरे ऊपर जो सब से अधिक प्रभाव पड़ा, वह एक बंगाली ईसाई हैडमास्टर का उनका नाम था एन० सी० मुकर्जी, वे अंग्रेजी के एम० ए० थे, संस्कृत अच्छी जानते थे। साइन्स भी जानते थे क्योंकि वे बड़े मनोरञ्जक प्रयोग दिखलाया करते थे। विमशर्ट मशीन से उन्होंने बिजली के धक्के का हम लोगों को अनुभव कराया था। उन्होंने ही विज्ञान में मेरी रुचि उत्पन्न की थी। उनका हास्य भी बड़ा मधुर था। एक लड़का बड़ा मोटा था। एक रोज वह किसी साधारण से प्रश्न का उत्तर न दे सका तो वे कहने लगे, 'आकार सदृशः

प्रश्नः।' यह वाक्य महाराज दिलीप के लिए कालिदास ने कहा है किन्तु मुकर्जी महोदय का अर्थ था जैसा मोटा शरीर, वैसी ही मोटी अक्ल है। उन्होंने ही मुझे लूज़ सेन्टेन्स और परियड का अन्तर बताया था। उनके ही प्रभाव से मुझे छोटी और सुन्दर रचनाओं के लिए आदर हो गया था। (यह लेख उस प्रभाव के विरुद्ध है) परिमाण (Quantity) के अपेक्षा गुण Quality की कद्र करना मेरे ताऊ ला० बिहारीलालजी ने मुझे सिखाया था। हमलोगों के यहां पसरट की दुकान होती थी। हमारे कुटुम्बी पुड़िया वाले कहलाते हैं। दिवाली से कुछ दिन पहले घर के सब लोग दिवाली की पूजा के लिए पुड़िया तैयार कर रहे थे। एक पुड़िया में चन्दन चूरा डालते हुए उन्होंने कहा था—'चन्दन की चुटकी भली—भलौ न गाड़ी भरौ कबार।' मेरे पूछने पर उन्होंने मुझे उसका अर्थ भी समझाया था। उसका प्रभाव मेरे मन पर अभी तक है।

मुकर्जी साहब ने मेरा एक निबन्ध ठीक किया था—उसकी बहुत-सी बातें हिन्दी और अंग्रेजी दोनों तरह की रचना करने में सहायता देती रहीं। उन्होंने मुझे बतलाया था कि छोटे शब्द से वाक्य को खतम न करनी चाहिये, और जहाँ एक शब्द छोटा हो और दूसरा बड़ा तो बड़े शब्द को पीछे रखना चाहिए। उनके बतलाए हुए हास्य के चुटकुले मुझे अब भी याद हैं

स्कूल की शिक्षा में इन्सपेक्टरों का जो हाथ था वह भूलने की बात नहीं है। स्कूल ऐसे सजाये जाते थे जैसे कि गवर्नर के आने में। मेरे एक मास्टर तो मखमल की अचकन पहनकर आया करते थे। एक बार इन्स्पेक्टर महोदय ने शायद मजाक में कह दिया था—You look like a prince ! (तुम राजा जँचते हो) उन्होंने उसे बड़ी तारीफ की बात समझी। वे अंग्रेजी मुहाविरों का अत्याधिक प्रयोग करते थे। उन्होंने ही

मुझे अंग्रेजी गंवारू प्रयोग (slang) भी बतलाये थे।

स्कूल के दिनों में अंग्रेजी और संस्कृत से मुझे रुचि थी। शेष विषय तो कर्तव्य समझ कर पढ़ लेता था। हिसाब से जी चुराकर भागता था। भक्ति-भावना कुछ अधिक होने के कारण पिता की तो नहीं परम पिता की शरण लेता। जो भगवान बिल्ली के बच्चों को अवे की आग से बचा सकते थे, वे क्या मुझे मास्टर की कोपाग्नि में भस्म होने देंगे ? संस्कृत पढ़कर कुछ पांडित्य-प्रदर्शन का व्यसन हो गया था। आर्य-समाज और सनातनधर्म के शास्त्रार्थों में भी अधिक रुचि थी। मैं सनातनधर्म का पक्ष लेता था और कभी-कभी बहस में घण्टों बिता देता। इस कारण मैं भी धर्म का रक्षक बन जाता था। मेरे पड़ोस में सुखलाल नाम के बढ़ई रहते थे, मैं उनकी कला का बड़ा प्रशंसक था और कभी-कभी खराद की डोरी खींचकर मैं अपने को कार्य-कुशल समझने लगता था। उनके नीम के नीचे रामायण और सबलसिंह चौहान का महाभारत जो मेरे यहाँ बंगवासी के उपहार में आया था, आदि ग्रन्थ पढ़े जाया करते थे। उनको मैं बड़े प्रेम से सुनता था। बस यही मेरा व्यसन था।

ऐसे निर्व्यसन विद्यार्थी की इम्तहान की तैयारी बहुत अच्छी होनी चाहिए थी, किन्तु हिसाब, इतिहास आदि विषयों में रुचि न थी, फिर कैसे अच्छी होती ? अभी तक कभी-कभी स्वप्न में अपनी गैर-तैयारी देखकर चौंक पड़ता हूँ। परीक्षा के लिए आगरे आया। बाबू बनारसीदास जी जैन को कृपा से वैश्य बोर्डिंग हाउस में ठहरा। आगरा कालेज के हाल में परीक्षा दी। परीक्षा-भवन के हाबू बाबू (वर्त्तमान में डाक्टर सुशीलचन्द्र सरकार) से जान-पहचान हुई। तब की मित्रता वे अभी तक निभाये जाते हैं। जब कभी रात-बिरात उन विचारों को बुला लेता हूँ, दूसरों का इलाज करते हुए भी वे विचारे वे-उज्र चले आते हैं।

उन दिनों लीडर का जन्म नहीं हुआ था। परीक्षाफल जानने के लिए यू० पी० गजट ही एक मात्र साधन था। कभी-कभी सम्पन्न लोगों के मित्र या रिश्तेदार नैनीताल से तार भेज देते थे। उनकी प्रामाणिकता में सदा सन्देह रहता, भयङ्कर भूल भी हो जाती थी। फेल होकर पास होना तो प्रसन्नता को द्विगुणित कर देता है किन्तु पास की खबर पाने के पश्चात् गजट में फेल निकलना गहरा मानसिक आघात पहुँचाता है। एक बार मिडिल के इम्तहान के सम्बन्ध में ऐसा धोखा खा चुका हूँ। पृथ्वी के देवताओं को प्रत्यक्ष रूप से और आकाश के देवता अप्रत्यक्ष रूप से प्रसन्न किये गये। हलवाई का भला हुआ। बधाइयाँ मिलीं और बड़े-बड़े लोगों के घर जाकर प्राप्त की गई। किन्तु गजट आने पर पाँसे उलटे पड़े दिखाई दिये। लज्जा के कारण दो दिन घर से बाहर नहीं निकला। इस बार दूध के जले ने छाछ फूँक-फूँक कर भी गजट की प्रतीक्षा सन्तोष के साथ की। परीक्षा-फल आने पर कम्पित हृदय से गजट देखने गया। अपना नाम देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और मालूम नहीं देवीजी का या भैरवजी का या महादेवजी का प्रसाद बांटा। उन दिनों सभी मेरे इष्टदेव थे।

मेरी स्कूल की शिक्षा की इति-श्री हुई। 'यहां की बातें यहीं रह गई अब आगे का सुनो हवाल।'

उसे न भूलूँगा

(वैश्य बोर्डिङ्गहाउस की मधुमय स्मृति)

मेरे जीवन नाटक में थोड़ा सा काव्य भी है। उसको मूर्त-रूप देने के लिए काव्य की भाषा अपेक्षित थी किन्तु मुझे वीणा-वादिनी माता सरस्वती का लाड़िला सुत होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। क्या किया जाय, 'चाहिए अमी जुरै न छाछी' हृदय की जिस उदारता से पण्डित लोग सूखे चावलों में सरस नैवेद्य और हरे-भरे पुष्प-निर्माल्य की कल्पना कर लेते हैं, यदि मेरे पाठक भी उसी मनोवृत्ति से काम लेकर मेरी शुष्क एवं कर्कश गद्य में 'एक सुख देखो मैंने बबुल के राज में, मेरा गुड़ियों का खेलना री' की-सी सुमधुर रागमयी गीत-काव्य-चित्रावली का आरोप कर लें तो वे मेरे भावों के साथ न्याय कर सकेंगे।

एक ग्रामीण कहावत है 'बछिया मरी तो मरी आगरो तो देखो' ठीक उसी भावना को लेकर मैं एन्ट्रेन्स की (उस समय मेट्रीक्यूलेशन शब्द, जिसे मेरे मौलवी साहब 'मट्टी को लेसन' कहा करते थे, प्रचार में नहीं आया था) परीक्षा देकर आगरे से मैनपुरी लौटा था क्योंकि उसमें पास होना मैं इतना ही दुष्कर समझता था जितना कि सुई के नाके में से ऊँट का जाना।

दैवयोग से मेरा नाम गजट में आगया। 'अंधे के हाथ बटेर' लगना कहूँ या देवताओं की कृपा का फल कहूँ। मेरे लिए कालेज जीवन का प्रवेश-द्वार खुल गया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हरिभक्तों को स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। बड़ी सज-धज के साथ, जो कि एक खुदरंग पट्टू के कोट में सीमित थी, आगरे आया। असबाब के नाम एक पीपा घी का था, जिससे कम से कम ऋण लेने से बचा रहूँ क्योंकि शास्त्रों का वचन है 'आयुर्वै घृतं' और उसके साथ आचार्य ने यह भी कहा है कि 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।' मियाँ अल्लाहबख्श के बरकत भरे हाथों से बना हुआ बारह आनेवाला फूल-पत्तीदार चीड़ का एक बक्स जिसकी सिफारिश में उन्होंने 'कम-खर्च बाला-नशीन' कहा था, मेरे स्वाभिमान को बनाये रखने के लिए पर्याप्त था। बक्स की अपेक्षा मेरा हृदय पूर्ण था। उसमें गृहत्याग का विषाद और कालेज-जीवन-प्रवेश की उत्सुकता के भाव भूखे के पेट के चूहों की भांति द्वन्द्व मचा रहे थे।

उस समय न्यू होस्टल का, जो अब अन्य होस्टलों के बन जाने के कारण पुराना हो गया है और अपने पुरानेपन को छिपाने के लिए टामसन होस्टल के नाम से पुकारा जाता है, मौजूद न था। अन्य होस्टलों की अपेक्षा वैश्य हाउस फेशनेबिल समझा जाता था। फैशन से तो मैं कोसों दूर था, किन्तु वैश्य होने के नाते थोड़ी बहुत सिफारिश के साथ मैं उसमें दाखिल हो गया।

बोर्डिङ्ग के नये विद्यार्थी में चाहे अजनबीपन न हो किन्तु यार लोगों की एक्सरे-की-सी भेदक दृष्टि उसमें कुछ न कुछ अजनबीपन खोज निकालती है। वह बौरे गाँव का तो नहीं सयाने गाँव का ऊँट बन जाता है। मुझमें भी अजनबीपन का कुछ मसाला मिल गया। बोर्डिङ्ग हाउस में मेरे एक अभिभावक

थे, जलेसर निवासी स्वर्गीय बनारसीदासजी जैन (प्रसिद्ध कवि नहीं)। मैं उनसे 'भैयाजी' कहा करता था। बात-बात में भैयाजी का आश्रय लेता था। कुछ लोगों ने मेरा नाम ही भैयाजी रख लिया और एक महाशय तो थोड़ा सा टेढ़ा मुँह करके लम्बे खिंचे हुए स्वर से मुझे भैयाजी कहकर सम्बोधित करते थे। इसका फल यह हुआ कि मुझ में आत्म-निर्भरता के चिह्न दिखाई देने लगे और कुछ आवारगी यानी घूमने-फिरने की आदत आगई। मैं जंगली से शहरी बना।

यद्यपि बोर्डिङ्ग हाउस के जीवन में पारिवारिक जीवन की प्रतिच्छाया रहती है तथापि एक बात का विशेष अन्तर है। वह है प्रभावों का वैविध्य। उस समय वैश्य हाउस में सभी टाइप के लोग थे। घोरातिघोर कट्टर सनातन धर्मी जो चौके की लकीर के फकीर होकर उसको इतना ही महत्त्व देते थे जितना कि सीताजी के चारों ओर खींची हुई लक्ष्मणजी की रेखा को देना चाहिए था। मैं भी शुरू-शुरू में उसी वर्ग का था। इस वर्ग में प्रमुख थे लाला राधेलालजी अग्रवाल जो बोर्डिङ्ग की दावतों में भी अलग चौकी पर बैठ कर खाते थे और कभी-कभी धर्म के मामलों में वे प्रचंड रूप धारण कर लेते थे। उन्हीं के साथ कुछ लोग थे जो योरप में वेदों का डंका बजाना अपने जीवन का लक्ष्य बनाये हुए थे। उनकी पेटेन्ट वर्दी थी पट्टू का कोट और कन्धे से अछूती झाड़दार चुटिया। श्रीधर्मदेव विद्यार्थी जिनका उस समय नाम था लाला बत्थीमल और जिनको हम चिराग़-अली भी कहते थे, इसी टाइप के कहे जा सकते हैं। कुछ सूटेड-बूटेड साहब लोग भी थे जिनमें स्वदेशाभिमान की मात्रा तो कम न थी किन्तु थे वे आपादमस्तक अंग्रेजी सभ्यता में शराबोर। उनमें इतनी ही अच्छी बात थी कि मेंढक और कछुए की भाँति देशी जीवन में भी वे अच्छी तरह हिल-मिल जाते थे। उस वर्ग में

थे जमुनाप्रसाद जो अब रायबहादुर और चैयरमैन म्यूनिस्पल बोर्ड मथुरा हैं और उग्रसेन जो अब रायबहादुर बार-एट लॉ और मालूम नहीं क्या-क्या हैं। इन लोगों में साहिबी शान होते हुए भी अभिमान की गन्ध तक न थी। कुछ ऐसे भी सज्जन थे जो इनकी बराबर फिजूल खर्च तो न थे किन्तु इनसे शान-वान में पीछे भी नहीं रहते थे। इस कोटि में श्रीगोपालचन्द्रजी गिने जा सकते हैं। वे अब किसी रियासत में मिनिस्टर हैं। उनके कमरे में नन्हेखाँ कबाड़िया से खरीदे हुए फर्नीचर की भरमार रहती थी। लोग कभी-कभी उनको कबाड़िया-मेड जेन्टिलमेन कह दिया करते थे। दो एक साहब ऐसे थे जो पाउडर-क्रीम के अस्त्रों से ब्रह्मा को नीचा दिखाना चाहते थे, किन्तु रसायन शास्त्र के सारे प्रयोग उन्हें हंस न बना सके।

देशभक्तों में घोर संशयवादी (Sceptics) बुद्धिवादी (Rationalists) और नास्तिक थे। उनके कर-कमलों में हमेशा कोई न कोई रेशनलिस्ट प्रेस की छः आने वाली पुस्तक दिखाई देती थी। उन लोगों से मैंने विकासवाद के सम्बन्ध में बहुत-कुछ सीखा। उनमें प्रमुख थे स्वर्गीय मिन्नीलाल जिनकी नेपोलियन सी लम्बी ठोड़ी उनकी निश्चयात्मकता को प्रमाणित किया करती थी। खेद है वे इस संसार में नहीं हैं।

इनके साथ कुछ श्रद्धालु आस्तिक भी थे, इनमें इटावा के लाला सूर्यनारायण अग्रवाल का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। वे थियोसोफिस्ट भी हैं किन्तु उनकी थियोसोफी उनके कमरे तक ही सीमित रही, क्योंकि मेरी समझ में थियोसोफिस्ट लोग अपने मोतियों के लिए हंस ही ढूँढ़ा करते हैं। हाँ, एक और जबर्दस्त थियोसोफिस्ट थे, उनका नाम था श्री द्वारिकाप्रसाद गोयल। वे बड़े अच्छे वक्ता थे किन्तु उनकी वक्तृत्वकला उनको चार बार में फोर्थ ईयर रूपी महोदधि के पार न लेजा सकी। वे

हर बात में फोर्थ डाइमेन्शन (Fourth Dimension) और थॉट फ़ॉर्म्स (Thought forms) की दुहाई देते थे किन्तु उनका देशभक्ति-सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन गम्भीर था। हिन्दी-भक्तों के साथ कुछ मौलाना लोग भी थे जो 'अरे म्याँ चिराग़ में कुछ रौग़न-औग़न भी हैं या नहीं' कह कर अपनी उर्दू-संस्कृति का परिचय दिया करते थे। मौलाना नाम के कारण वृन्दावन के एक मन्दिर में उनका प्रवेश रोक दिया गया था। वे मन्दिर के सिपाही से भी 'अरे म्याँ मैं तो अगरवाला हूँ' कह बैठे थे। चोटी-जनेऊ दिखाने पर ही उन्हें भगवान के दर्शन मिले। आज कल के शिखा-सूत्र-हीन विद्यार्थी होते तो न जाने क्या होता ?

इन मित्रों के साथ मैं श्री कन्हैयालालजी बौहरे का नाम लेना नहीं भूलूँगा। ये महाशय भी देशभक्त थे पर संयत टाइप के। डेम्पियर पार्क में इनकी नई कोठी को देख कर आश्चर्य चकित होकर मुझे कहना पड़ा था 'अकबरा तेरे जे जे ठाठ' ये महाशय मेरे मथुरा जाने पर अब भी किराये-भाड़े के लिए एक रुपया भेंट किया करते हैं। मैं भी उनके आगे हाथ पसारने में लज्जित नहीं होता।

किसी न किसी गुण के कारण मैं सभी का भक्त था और सभी ने मुझे अपना अन्तरंग मित्र समझने की कृपा की थी। इसलिए ठलुआ-पन्थी के लिए काफी अवसर मिलता था और साथ ही ज्ञान-विस्तार को भी। स्वदेशी आन्दोलन खूब ज़ोर पर था। सिवाय मेरे रायबहादुर मित्रों के जो मुझसे विशेष घनिष्टता रखते थे और सब स्वदेशी रंग में रँगे हुए थे। बाबू जमुनाप्रसाद काली कामर तो न थे, वे काफी गोरे-चट्टे थे, पर उन पर दूसरा रंग नहीं चढ़ा। यद्यपि भवभूति के शब्दों में यह तो नहीं कह सकता कि 'अविदितगतयामा रात्रिरेवं विरंसीत' तो भी बारह बज जाना सहज बात थी। कोई ऐसा वाद न था जो उस

ठलुआ पार्टी में वार्तालाप का विषय न बना हो। शहर का संदेशा तो क्या सारे देश का संदेशा हम लोगों को था किन्तु कभी लटे नहीं। विज्ञान के नये-नये प्रयोग किये जाते थे। मेरे यह सुझाने पर कि सूर्य अत्यन्त ठण्डा है क्योंकि जितना हम ऊपर चढ़ते हैं उतना ही तापमान कम होता है और सूर्य की गर्मी रश्मियों के संघर्ष के कारण है, मुझे डी. एस. सी. की डिगरी मिली थी। इसी प्रकार मैंने यह बतलाया था कि एयरोप्लेन में ऊँचे उठकर हम एक दिन में अमरीका पहुँच सकते हैं। पृथ्वी अपनी कीलोपर घूमती है, घूमते-घूमते जब अमरीका आये तुरन्त नीचे उतर जायँ। इसपर दूसरी बार डिगरी मिलते-मिलते रह गई।

यद्यपि कवि-सम्मेलनों की उस समय प्रथा न थी तथापि हम सभी आशु कवि थे। जीवन ही काव्य था। फिर गुप्तजी के शब्दों में कवि बन जाना सहज संभाव्य था। बाज़ार में जाते हुए भूख लगी और शायद उसी तेजी और भावुकता से जिससे कि महर्षि बाल्मीकि के मुख से 'मा निषाद' वाला अनुष्टुप छन्द निकला था शिखरिणी छन्द निकल पड़े थे। 'भुन्ने भिन्नी गिन्नी लवणयुत सिन्नी तब मिले' (उस समय गिन्नियों का अभाव न था और लाला भिन्नीलाल के पास गिन्नी थी) मानसिक भोजन के साथ भौतिक भोजन भी बड़ा उत्तम मिलता था। जुगल महाराज और मेवाराम महाराज का नाम मेरे हृदय-पटल पर चिरकाल तक अंकित रहेगा। वैसा भोजन, न शारीरिक और न मानसिक अब किसी बोर्डिङ्ग में मुश्किल से ही मिलेंगे। उस समय हमारे मेस में पूरा साम्यवाद था। डाइट्स (diets) लिखी नहीं जाती थीं क्योंकि सभी लोग 'अजगर करे न चाकरी' के मानने वाले थे, फिर टेनीसन की लोटस ईटर्स नाम की कविता भी पढ़ चुके थे। हाजिरी कौन भरे ? महमान सबके महमान होते थे और सबका बराबर एकसा उत्तरदायित्त्व था।

मेरे कक्षवासी चम (chum) मुझसे सदा झगड़ा करते थे। मैं यदि तीन बजे उठकर पढ़ूँ तो वे तीन बजे तक कमरे को आलोकित रक्खें। इस प्रकार ब्रिटिश एम्पायर की भांति मेरे कमरे में सदा उजाला रहता था। बाबू जानकीप्रसाद कार्य-विभाजन में अधिक विश्वास रखते थे। रात को ऊपर की चटखनी वे बन्द करते तो नीचे की मैं बन्द करता। मुझे अध्ययन में पराई पत्तल का भात अच्छा लगता था। आर्ट्स का विद्यार्थी होकर विज्ञान में मुझे रुचि थी। संस्कृत की बजाय फ़िजिक्स की किताबें पढ़ता। तर्कशास्त्र मेरा विशेष विषय था। बिना पैसे की चार-चार घंटे ट्यूशनें करता था। इन सब बातों का फल यह हुआ कि सुयोग्य गुरुओं को, जिनका पृथक वर्णन करूँगा, पाकर परीक्षाओं की मंजिलें धीरे-धीरे मैंने तय कीं। शनैः कन्थाः शनैः पन्थाः शनैः पर्वत लंघनं, शनैः विद्यावित्तञ्च एते पञ्च शनैः-शनैः। मैं नहीं जानता इसको सफलता कहूँ या विफलता किन्तु उस जीवन में सजीवता थी, विशाल भारत में उसके सुयोग्य सम्पादक पंडित श्रीराम शर्मा द्वारा निर्जीवता की अमर ख्याति प्राप्त करके भी मैं अपने को सजीव कह सकता हूँ, यह उसी समय की सजीवता का प्रतिस्पन्दन है। नहीं तो जाको मारे साइयाँ राखि सके को ताहि ?

नमो गुरुदेवेभ्यो

(कालेज जीवन के दश गुरु)

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

कछुआ और मेंढक की भाँति कुछ जीव उभयगति होते हैं। उनकी गति जल-थल में समान रहती है। मैं भी किसी अंश में वैसा ही जीव हूँ। मैं आगरा कालेज का विद्यार्थी रहा हूँ और सैण्टजौन्स का भी। यद्यपि यह कहना कठिन है कि किस कालेज का मैं कितना ऋणी हूँ तथापि यदि मैं किसी कल्पना-विस्तार से अपने को प्रस्तर मूर्ति होने का गौरव दूँ तो मैं यह कह सकता हूँ कि मुझ अनगढ़ प्रस्तर-खण्ड* को बाहरी रूपरेखा मिशन हाईस्कूल मैनपुरी में मिली थी। वह आगरा कालेज में गढ़ा गया और उसे सेण्ट जॉन्स कालेज में ओप (पोलिश) दिया गया। उस मूर्ति को वैश्य बोर्डिङ्ग में सजीवता मिली।

मुझे अपने कालेज जीवन में विष्णु भगवान् के दशावतार स्वरूप दस गुरुओं की 'बूटाच्छादित-चरणाम्बुज-सेवा' का

---

* मेरे मौलवीसाहब मुझे अक्सर कुन्दए नातराश कहा करते थे। उसका अर्थ अनगढ़ पत्थर के समान ही है।

सौभाग्य प्राप्त हुआ है। स्मृति-मन्दिर में सुखासीन उन प्रत्यक्ष देवताओं के धुँधले से शब्द-चित्र अङ्कित कर मैं अपनी स्वर्ण-जिह्वा लेखनी को पवित्र करूँगा। यद्यपि देवताओं में कोई छोटा बड़ा नहीं होता तथापि मैं गणेश स्वरूप अपने संस्कृत अध्यापक पं० कृष्णलाल मिश्र के चरणों में श्रद्धाञ्जलि अर्पित करूँगा। लोक-रीति से भी "अग्रे अग्रे ब्राह्मणाः" की नीति मान्य है।

१ पं० कृष्णलाल मिश्रः—

आपके भव्य शरीर से 'वागर्थाविव संपृक्तौ' पेन्ट और छकलिया अचकन का बेजोड़ जोड़, गोल मखमली टोपी, आत्म-सन्तोषपूर्ण प्रसन्न वदन, लहराती मूँछें, उन सब के साथ लम्बी डग-भरी दण्डाश्रित व्यालविनिन्दित चाल, आपको तीन लोक से न्यारी छटा प्रदान करती थी। जिस प्रकार ऋषियों की क्रियाएँ फलानुमेया कही गई हैं, उसी प्रकार आपका स्मितहास्य मूँछों की गति से अनुमेय रहता था। आपके पढ़ाने में बात-बात में रसिकता टपकती थी। आपके वार्तालाप में जीवन के प्रति पूर्ण अनुराग था, लेकिन आप बोलते अंग्रेज़ी में ही थे। आपके अधर पुटों से हिन्दी के शब्द विरले ही अवसरों पर निकला करते थे। हम लोग उन शब्दों को पृथु की भाँति सहस्रकर्ण होकर सुनते थे। पण्डितजी देववाणी को राजभाषा का रूप देने में बड़े सिद्धहस्त थे। अनुवाद में शब्दों की पुनरावृत्ति बचाने के लिए वे नये-नये प्रकार के वाक्-विन्यास खोज निकालते थे।

पण्डितजी का मुख्य व्यसन वैद्यक है। जब डा० गंगानाथ झा को डी० लिट्० की डिग्री मिली थी तब मैंने कहा था, 'गुरुदेव! आप भी डी० लिट्० ले लीजिए।' 'असन्तुष्टा द्विजा नष्टा' कह आप मुस्कराये और फिर बड़ी वैराग्य मुद्रा धारण करके कहने लगे, 'All D. Litts must die. My ambi-

tion is to become a good Vaidya' मैंने निवेदन किया, 'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।' आपने तुरन्त ही उत्तर दिया कि 'नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे।" इस प्रकार पण्डितजी का घण्टा काव्यशास्त्र—विनोद में जाता था। जब हम लोगों के वार्तालाप का पारावार पाठ्यविषय की क्षुद्र सीमाओं पर आक्रमण करने लगा तब यह निश्चय हुआ कि संस्कृत में बातचीत किया करेंगे। इससे स्वयं मितभाषिता आ जायेगी। मुझे अब और तो कुछ याद नहीं रहा, केवल इतना ही याद है कि पाठ खतम होने पर वे कहते थे 'अत्रैव विरामः।' उनका चित्र भी यहीं विराम लेता है।

202

२—डबल्यू० टी० मलीगनः—

ये महाशय थे तो विशुद्ध आइरिश, लेकिन इनके मुखमण्डल तथा हाथों पर भारत की प्रखर सूर्य रश्मियों का प्रभाव अच्छी तरह पड़ा था। जब कभी ये आस्तीनें चढ़ाते (लड़ने के लिए नहीं) तो उनके हाथों और बांहों का अन्तर तुरन्त मालूम पड़ने लगता था। उनकी श्वेत बाहुओं में तांबे के रंग के हाथ ऐसे प्रतीत होते थे मानों किन्हीं अश्विनी कुमारों के अवतार ने उनको ऊपर से जोड़ दिया हो। 'आकार सदृशी प्रज्ञा' के अनुसार जैसा ठोस उनका शरीर था वैसा ही ठोस उनका पाण्डित्य था। वे शब्दों का अर्थ बताने में उनके बाबा परदादा तक का हाल बखान देते थे। बिना टेन्टेलस की विस्तृत कथा सुनाये Tantalise शब्द का अर्थ न बताते थे। ग्रीक और लेटिन के वे इतने शौकीन थे कि मजिस्ट्रेटी के जीवन में ग्रीक लेटिन का काम न पड़ने के कारण उन्होंने उस पद से त्यागपत्र दे दिया था। वे दिन भर में साइकिल पर मेरठ पहुँच जाते थे। साइकिल पर कभी-कभी वे निद्रा-मग्न भी हो जाते थे और अपने

लक्ष्य को भूल कर किसी दूरस्थ गाँव में पहुँच जाते थे। उन दिनों मोटरकार का प्रचार न था, इसलिए कोई एक्सीडेन्ट नहीं होता था। इस समाधि-प्रेम का कारण था स्वाध्याय का आधिक्य। वे रात के दो तीन बजे तक पढ़ा करते थे। बीच में जब निद्रा आती मुगदर की जोड़ी फिरा कर योगमाया को दूर भगा देते थे। वे हन्टले साहब के साथ उस कोठी में रहते थे जो आजकल हंटले हाउस के नाम से प्रख्यात है। एक बार वे किसी लड़के के लिए सिविलसर्जन को लिवाने गये। निद्रा के आवेग में शहर से दूर जा पहुँचे और फिर किसी जमींदार की चौपाल में दुपहरी बिताई। शाम को जब वे डाक्टर को लेकर लौटे तब लड़का टेनिस खेल रहा था।

मलीगन साहब बड़े हास्यप्रिय और वाचाल थे। मैं पाठ्य पुस्तक की अपेक्षा उनकी बातों को अधिक महत्व देता था। तर्क शास्त्र का प्रेम मैंने उनसे ही प्राप्त किया था। वे सब चीज की क्रियात्मक व्याख्या अपने टोप से करते थे। कभी वे उसे जहाज मान लेते तो कभी उसे पार्लीमेन्ट का भवन।

मैंने ऐसे गुरुओं की शिक्षा प्राप्त कर परीक्षा की ओर तो कम ध्यान दिया, विज्ञान और दर्शनशास्त्र के बाहरी अध्ययन में अधिक समय बिताया। इसीलिए मुझे परीक्षा-सागर में गोते खाने पड़े।

३--प्रो० एन० सी० नागः--

यद्यपि मैं विज्ञान का विद्यार्थी न था तथापि मैं उनसे बहुत प्रभावित था। उनसे गुरु शिष्य का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मैंने उनका फोटोग्राफी क्लास जोइन किया। उनका श्याम वर्ण, छोटा कद, गठा शरीर, फुर्तीली चाल, हंसता हुआ चेहरा, उनको विद्यार्थियों के हृदय में एकदम उच्च स्थान दे देता

था। वे एक चौथियाई बोलते, एक चौथियाई मुस्करा कर हाथ के इशारे करते थे, एक चौथियाई बोर्ड पर लिखते थे और कौशल और हस्तलाघव के साथ आधा प्रयोगात्मक रूप से बतलाते थे। इस प्रकार उनकी बताई हुई बात सवाई समझ में आती थी। हमारे लाला विश्वम्भरलालजी उन्हीं के शिष्य हैं।

वह समय विशेषीकरण का न था। नाग साहब फिजिक्स और केमिस्ट्री दोनों ही विषय एम० एस० सी० तक पढ़ाते थे। पीछे से फिजिक्स के लिए मिस्टर गुप्ता आये थे। इसके अतिरिक्त वे फोटोग्राफी क्लास लेते थे। वे नये प्रयोग करते (वायरलेस उन दिनों चला ही था) और न जाने क्या-क्या नहीं करते थे। एक ग्रामोफोन रेकार्ड बनाई थ जिसमें उन्होंने सब प्रोफेसरों की आवाज भरी थी। एन्ट्रेंस फेल सादिकअली एकमात्र डिमोन्स्ट्रेटर थे और निरक्षर भ ाचार्य वजीरा लेब० असिस्टेन्ट था। जब मैंने फोटोग्राफी क्लास छोड़ा तब यह शेर दीवार पर लिख दी थी।

"अलविदा ऐ पाइरो अलविदा अलक ली।
अलविदा वजीरा ओ सादिकअली ॥

वे कभी-कभी एक आध लड़के को बांस से पीट भी देते थे रवि बाबू के शब्दों में हम कह सकते हैं कि जो प्यार करता है वही पीटने का अधिकारी होता है।

४—मेजर ओडोनैल

ये (अब कर्नल और प्रिन्सीपल मेरठ कालेज) बड़ी सौम्य प्रकृति और स्वतन्त्र विचार के सज्जन हैं। आप भी आइरिश हैं और उस समय शायद इसी नाते भारतीय विद्यार्थियों और राजनैतिक समस्याओं से बड़ी सहानुभूति रखते थे। उनकी स्वच्छ रक्ताभ हंसमुख सौम्य आकृति, गोल्ड फ्रेम में से झाँकती हुई

आँखें की विशिष्ट चितवन विलायत से नौ-वारिद साहब की सिविलियन सजधज, भय और आतङ्क को भगाकर श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न कर देती थी। वे जनरल इङ्गलिश पढ़ाते थे। शायद आइरिश होने के कारण वे शीन के शड़ाके बहुत भरते थे। चपल बुद्धि 'बालक-बर एक सुभाऊ' विद्यार्थियों ने उनका नाम 'शू-शू साहब' रख लिया था। हाज़िरी लेते समय जब वे किसी विद्यार्थी के नाम का कोई अंश उच्चारण नहीं कर सकते तब वे something कह देते थे; किन्तु एक बार सुमित्रा नन्दन सहाय का नाम पढ़ते समय वे उनके नाम के तीनों भागों का उच्चारण न कर सके और something something something कह गये। लड़के ने तो हाज़िरी बोल दी लेकिन सारे क्लास में हँसी की लहर दौड़ गई।

ओडोनैल साहब की एक बात ने मुझे अभी तक काम दिया है और शायद आप लोगों को भी याद रहे। वे कम्पोजीशन पढ़ाते समय "उन आइडिया, उन पेरेग्राफ, उन पेरेग्राफ, उन आइडिया" कहते हुए नहीं थकते थे। उनके इस विचार से मेरे लेखों में सङ्गति की भावना अधिक बढ़ गई है।

५—आचार्य टी० सी० जोन्सः—

आप कालेज के प्रिन्सीपल थे। आपका हृष्ट-पुष्ट लम्बा-तड़ङ्गा फौजी शरीर स्वास्थ्य एवं अधिकारसूचक रक्ताभ वर्ण प्रिन्सनेज चश्मा तथा लार्ड टेनीसन के ब्रुक की सी उमड़ती घुमड़ती, लहराती आवाज विद्यार्थियों में भारी आतंक पैदा कर देती थी। वे मितभाषी थे। उनको केवल पढ़ाने से काम था। परीक्षा-प्रेमी विद्यार्थियों के वे आदर्श गुरु थे। नपे-तुले पेराफ्रेज, टकसाली रुपयों की भांति खनाखन निकलते आते थे। मुझे ऐसे वार्तालाप-प्रेमी 'शनैः कंथा शनैः पंथा' के अनुगामी, ठहर-ठहर

कर पास होने वाले विद्यार्थियों के लिए उनकी पढ़ाई मथुरा के चौबों की भाषा में सूखी चिनाई सी लगती थी। एक बार मेरा जी ऊब रहा था, मैंने अपने पास के विद्यार्थी से अपनी कापी पर फार्सी में 'दरसायल चन्द दकीका बाक़ी अन्द (अर्थात् घन्टा बजने में कितने मिनट बाकी हैं) लिखकर पूंछा, जोन्स साहब घूमघूम टहल-टहल कर पढ़ाते थे I slide, I slip, I gloom, I glance का चित्र उपस्थित हो जाता था। इसलिए उनकी दृष्टि सर्वतोमुखी रहती थी। वे चुपके से मेरी कापी उठा ले गये और उस वाक्य को मौलवी साहब से पढ़वाया। फिर उन्होंने मुझे वह करारी फटकार लगाई कि आजीवन याद रहेगी It is not conplimentary to a professor to be talking or looking at watches while he is teaching इस पर भी उन्होंने मुझे सार्टीफिकेट बहुत अच्छा दिया था। मुझमें संग्रह-बुद्धि नहीं है। यदि वह मेरे पास होता तो गर्व से मैं आप लोगों को दिखाता।

६—प्रोफेसर चार्ल्स डॉबसन

जब मैं आगरा कालेज में फर्स्टईयर में पढ़ने के लिए आगरा आया था उस समय तक स्कूल और कालेज के पार्थक्य की भेद-बुद्धि का आरम्भ नहीं हुआ था। चार्ल्स डॉबसन स्कूल के हैड-मास्टर थे और कालेज में भी अध्यापन कार्य करते थे।

उनका मझोला कद, कुछ माँसलता की ओर झुका हुआ मुख-मण्डल, प्रसन्नानन, पूर्णव्यक्त मूँछे और कुछ नीची कलमें, गोल-मटोल सम्पन्नतासूचक खल्वाटोन्मुख शिर जिस पर कभी कभी पुरानी चाल का ऊँचा हैट विभूषित दिखाई देता एक दम विश्वास, निर्भयता, सज्जनता, सौम्यता और पाण्डित्य का अङ्क नवागत विद्यार्थियों के हृदय में जमा लेता था। मैं उनके स्पष्ट

उच्चारण से बहुत ही प्रभावित था। एक-एक शब्द मोती-सा गोल स्वच्छ और निश्चित रूप-रेखा-पूर्ण होता जिसके व्यक्तीकरण में भी प्राय: उनके अधर-पुट वर्तुलाकार हो जाते थे। तर्क-शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला एक नपा-तुला वाक्य अभी तक मेरे कानों में गूंजा करता है। 'Science teaches us to know. Art teaches us to do. Science is systematised knowledge. Art is systematised action.'

स्कूल और कालेज का पार्थक्य हो जाने पर भी मैं अक्सर अपने फिलासफी के गुरुदेव राजूसाहब के साथ उनके बंगले पर जाया करता था और धार्मिक, दार्शनिक और राजनीतिक विषयों के गम्भीर अध्ययन और उदार दृष्टिकोण का परिचय पाता था। उनसे सम्बन्धित अपने जीवन की एक बात न भूलूँगा। उनके यहाँ कोई मीटिङ्ग थी। भेष-भूषा के सम्बन्ध में मैं प्राय: उदासीन रहा हूँ। लेकिन उन दिनों मैं एम० ए० का विद्यार्थी था। अपने गुरुदेव की देखा-देखी एक काला कोट भी बनवा लिया था, उससे सुसज्जित हो पहली बार ही लेम्प लगा कर साईकिल पर यात्रा की थी। रास्ते में ऊँची चढ़ाई थी। वह मेरे लिए माउन्ट एवरेस्ट की चढ़ाई से कम न थी वास्तव में वह मेरे लिए uphill task हो गया। उतरता इसलिए न था कि फिर चढ़ने में दिक्कत होगी और पैदल इसलिए नहीं चलता था कि समय की पाबन्दी न हो सकेगी। लम्प भी रात में ताजगंज की वर्ल्ड फेम (World fame) की गजक विक्रेता खोंमचे वालों की मिट्टी के तेल की कुप्पी से स्पर्धा कर रही थी। वह लम्प जिसको शुद्ध हिन्दी में दीप-मन्दिर कहूँगा एक साथ नासिका और नेत्रों को प्रभावित कर रहा था। रात्रि का समय था और सड़क भी निर्जन-प्राय थी। न कोई मेरी दुर्गति देखने वाला था और न कोई सड़क पर टकराने वाला, यदि होता भी तो मैं घंटी

का काम मुंह से लेता। बँगले पर पहुँच कर विश्राम मिला। लौटा में गुरुदेव के साथ पैदल। यह थी मेरा साइक्लिङ्ग की सब से बड़ी तो नहीं उससे कुछ कम सफलता। सब से बड़ी सफलता उस दिन हुई थी जब कि मैं अपने मित्र लाला कृष्णलाल (दहलवी) के निमंत्रण पर कैलाश में रामगुफा के उद्घाटनोत्सव की दावत खाने चार और विद्यार्थियों के साथ गया था। लौटा मैं उनकी विक्टोरिया में। साइकिल एक और विद्यार्थी को दे दी थी। यह सफलता या विफलता शायद इसीलिए हुई थी कि मुझे अपनी निजी साइकिल रखने का कभी सौभाग्य न हुआ था यद्यपि चाँदनी रात में साइकिल दौड़ाने की बात मेरे सुख-स्वप्नों में से थी।

इस विषयान्तर को पाठक क्षमा करेंगे।

७—प्रोफेसर बैनीमाधव सरकार

जब मैंने पहली बार फर्स्ट आर्टस की परीक्षा दी थी उस समय आर्ट्स कोर्स में गणित-शास्त्र का भी अध्ययन करना पड़ता था। गणित शास्त्र मेरी अभिरुचि का विषय न था। न जाने कौनसे धान गङ्गा में बोये थे जिसके पुण्य-प्रताप से पहली ही बार गणित लेकर एंट्रेंस में उत्तीर्ण हो गया था। एफ० ए० के गणित में सोलिड ज्योमेट्री कुछ रुचिकर थी क्योंकि उसमें कल्पना की व्यायाम के लिए स्थान अधिक रहता। प्रोफेसर सरकार का एक निजी व्यक्तित्व था। कुछ स्थूलकाय मझोला कद और चहरे पर भरी हुई डाढ़ी एकदम उन्हें भव्यता प्रदान करती थी। उन्होंने क्या पढ़ाया और क्या नहीं पढ़ाया इसकी तो मुझे कुछ याद नहीं। इसमें उनका दोष नहीं, मेरी रुचि ही का दोष था किन्तु वे थे बड़े नीति-निपुण और खरे समालोचक। कालेज की पोलिटिक्स यदि कहीं सुनने में आती थी तो उनके क्लास में।

उनके व्यङ्गयबाण बड़े तीखे होते थे, वैसे ही उनकी दृष्टि भी तीव्र थी। कोई विद्यार्थी धोखा देने का साहस नहीं कर सकता था। यदि कोई विद्यार्थी पाँच मिनिट भी लेट आता तो वे फौरन कह देते Please make yourself comfortable elsewhere' अर्थात् 'कहीं अन्यत्र आराम कीजिए' वे लड़कों का मजाक बनाना भी खूब जानते थे। यदि कोई लड़का कहता कि उत्तर करीब-करीब आ गया है तो वे कहते, 'क्या ऐसा कि दस उत्तर हैं तो नौ आ गया है?' कभी-कभी लड़के भी हाजिर जवाबी में उनसे आगे निकल जाते थे। एक बार उन्होंने एक लड़के से कहा कि आजकल घोड़े भी सही-सही सवाल निकाल लेते हैं तो उसने तुरन्त उत्तर दिया कि साहब उनमें किसी गणितज्ञ की रूह आ जाती होगी।

अपने विषय के वे पूरे पण्डित थे। यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं उनसे कुछ सीख न सका। सदाशय और सद्भावना की मूर्ति थे। वे बादाम की भाँति ऊपर से कठोर और हृदय से कोमल थे। पुरुष-परीक्षा में वे सिद्धहस्त थे। एक बार उनके घर जाते समय मेरे मित्र बाबू कृष्णलाल के नौकर कालू ने बादामों की ठण्डाई के धोखे में भाँग पिलादी। बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं अपनी बातों की असंगति न छिपा सका। वे तुरन्त ताड़ गये और कहने लगे 'बोर्डिङ्गहाउस जाइए आराम कीजिए'। दिल्ली दरवाजे के प्रसिद्ध होमियोपैथ डाक्टर सरकार उन्हीं के सुपुत्र हैं।

८—प्रोफेसर जोन बँगारू राजू

मेरी जीवन-नौका को यदि एक विशेष दिशा में ले जाने का श्रेय किसी गुरु को दिया जा सकता है तो राजू साहब को। उन्हीं के प्रतिभापूर्ण सौजन्य के कारण मैं सेन्टजान्स कालेज में फिलासफी के लेक्चर निश्शुल्क सुनता था। बिशप डरन्ट के

उदारतापूर्ण आग्रह से मेरी फीस इम्तहान में भेजी गई और पितृदेव की बेबसी की दी हुई आज्ञा पाकर मैंने लॉ की सफलता का बलिदान किया और प्रिवियस एम० ए० पास कर कालेज में प्रोफेसर बना। यदि मैं राजू साहब के सम्पर्क में न आता तो मैं न्याय-विभाग का उच्च अधिकारी अवश्य होता किन्तु लेखक, दार्शनिक और उसके फलस्वरूप छतरपुर राज्य का प्राइवेट सैक्रेटरी होने का गौरव न प्राप्त करता। उनकी बदौलत मेरी जीवन-वृत्ति का काव्य 'अर्थकृते' न बन कर 'यशसे' अधिक रहा।

मेरे गुरुदेव प्रलम्बता की मूर्ति थे। उनकी शरीर-यष्टिका की लम्बाई को उनके दुबलेपन ने और चहरे की लम्बाई को पुच्छाकार डाढ़ी ने निखार में ला दिया था। उनको अपनी डाढ़ी पर गर्व था। उन्होंने ऑक्सफोर्ड में भी जो मुछमुण्डता का गढ़ है उसकी इज्जत कायम रखने का साहस किया था। यदि कभी विद्यार्थीगण उसके विदा करने का आग्रह करते तो वे कह देते कि जिसको किंग जोर्ज ने अपनाया है उसे किस प्रकार हेय कह सकते हो। उनके मुखारबिन्द ने अपने प्रेमी भ्रमर की ईषत अनुरूपता धारण करली थी और उसे केशों के साथ कम्पिटीशन में केवल एक-चौथाई नम्बरों से हार मानना पड़ती थी। उनका अलपका का कोट उनके शरीर के वातावरण में साम्य-सा उपस्थित कर देता था। उनके ललाट और मुख-मण्डल की भावानुरूप तीव्र गति से बदलने वाली रेखाएँ उस साम्य में एक सुखद वैषम्य उपस्थित कर देती थीं। व्याख्यान देते समय उनकी शरीर-यष्टिका वेत्रलता के समान आगे-पीछे को लहराती, उनकी पदगति ताल का काम देती और उनकी यक्ष की-सी लम्बी उँगलियाँ अधरपुटों के साथ नृत्य करतीं। उनकी आँखों में एक विशेष दीप्ति थी जो श्रोता को अपनी सम्मोहनकला द्वारा मंत्र-मुग्ध कर देती थी। उनके वार्तालाप में उनका शरीर नहीं बोलता

था वरन् आत्मा बोलती थी। श्रद्धा और विश्वास की वे मूर्ति थे। भावुकता वर्षाकालीन नदी के जल की भांति उनके सारे शरीर से उमड़ी पड़ती थी। साधारण-सी बात में रहस्य और आद्भुत्य उत्पन्न कर देना उनके लिए सहज सम्भाव्य था।

उनका झुकाव रोमन केथोलिसिज्म की ओर था। विचारों की निर्भीकता उनकी विशेषता थी। यद्यपि उनके साधारण वार्तालाप में चाटुकारिता का पुट रहता था तथापि वे अपने सिद्धान्तों में दृढ़ थे। नित्य नयी दार्शनिक और सामाजिक समस्याओं का उद्घाटन करना उनकी प्रखर प्रतिभा का परिचायक था। मेरे प्रारम्भिक लेखों में उनके ही विचारों का अधिक अवतरण रहता था। उनके जीवन में बुद्धिवाद और भावुकता का विशेष समन्वय था। कोई बड़ा-से-बड़ा विषय न था जिसकी वे धज्जी न उडा देते हों और कोई छोटी-से-छोटी बात न थी जिसको वे महत्ता न दे सकते हों। अंग्रेजी सभ्यता के वे घोर प्रशंसक होते हुए भी उन्हें अपनी भारतीयता का गर्व था और अंग्रेज जाति के दोषों के उद्घाटन में भी वे नहीं चूकते थे। इसलिए कुछ लोग तो उनकी सचाई में भी शङ्का करते थे। 'निन्दन्ति नीति निपुणाः यदि वा स्तवन्तु' इसकी उनको परवाह न थी वे अपने सिद्धान्तों में अटल थे। दार्शनिक होते हुए भी उनमें सौन्दर्योपासना भी काफी थी। एक इटालियन रमणी की तारीफ करते हुए उन्होंने जो शब्द कहे थे वे मुझे अब तक याद हैं— 'She walked not but danced, she spoke not but sang' मैं अपने उत्तरकालीन जीवन में भी उनसे दिल्ली में मिला हूँ लेकिन उनकी छाप जो मेरे विद्यार्थी हृदय पर पड़ी थी वह अक्षुण्य है। मुझे दुःख है कि आजकल वे कुछ कठिनाई में हैं किन्तु 'भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषं।'

६—डाक्टर हंटले

मैं डाक्टर हंटले के ही कारण सेन्टजान्स कालेज के संपर्क में आया था। मैंने पढ़ाई की मञ्जिल सुस्ता-सुस्ता कर तय की थी। मैं बी० ए० में संस्कृत में फेल हो गया था। इसीलिए अब उस हीनता-भाव को दूर करने के लिए अपने लेखों में संस्कृत अधिक बघारता हूँ। प्रोफेसर मलिगन के देहावसान हो जाने के कारण आगरा कालेज में फिलासफी का कोई प्रबन्ध न था। मैं अपने शिकारपुरी मित्र के साथ हंटले साहब के पास फिलासफी के अध्ययन के लिए सेन्ट जॉन्स कालेज जाया करता था।

हंटले साहब और मलीगन साहब दोनों एक ही बंगले में जो अब हंटले होस्टल के नाम से प्रख्यात है, रहते थे। हंटले साहब पूरे स्कॉच थे, मलीगन साहब पूरे आइरिश, जोन्स साहब अङ्गरेज थे इसलिए मैं विद्यार्थी जीवन में पूरे ब्रिटिश आइल्स की मनोवृत्ति से परिचित हो गया था।

हंटले साहब की प्रतिभा वास्तव में बहुमुखी थी। ऐसा कोई विषय न था जिसको वे पढ़ा न सकते हों। एम० ए० को अंग्रेजी पढ़ाते थे, बी० ए० को फिलासफी पढ़ाते, कभी-कभी मैथेमेटिक्स का भी क्लास ले लेते और केमिस्ट्री क्लास के विद्यार्थियों को अपनी प्रतिभा से प्रभावित कर आते थे। बी० एस० सी० में बाइलोजी खुलवाने का श्रेय उन्हीं को है। मैडीकैल स्कूल में एनाटमी (Anatomy) पढ़ाते और कालेज होस्टलों के मैडीकैल आफीसर भी थे। छावनी में जाकर घंघरिया पल्टन के (High Landers) को गिरजे में उपदेश देते और शायद जनता में भी ईसाई धर्म का प्रचार करते थे। दो एक बार उनकी दवाइयों से मैंने भी स्वास्थ्य-लाभ किया था। एक बार नमूने में आई हुई फैलोससिरप की शीशी उन्होंने मुझे दी थी। भेष-भूषा

में वे रुकता थ। उनकी भेष-भूषा देख कर मैं भी आत्मग्लानि से बच जाया करता था। यद्यपि जूतों की सफाई में मुझे उनसे लज्जित होना पड़ता था क्योंकि मैं प्रायः किरमिच के सस्ते जूते पहना करता था जो शीघ्र ही मेरी गरीबी का परिचय देने लगते थे। मैं गरीब था ही और अपनी अस्त-व्यस्तता के कारण गरीबी का प्रदर्शन भी करता दिखाई देता था। यद्यपि वैभव-प्रदर्शन का वैज्ञानिक अध्ययन किया है—तथापि उसके व्यावहारिक पहलू से मैं अछूता रहा हूँ। कभी-कभी पांडित्य-प्रदर्शन कर लोगों को अवश्य धोखे में डाला है जिसके लिए मुझे हार्दिक खेद है। हंटले साहब गर्मियों में सफेद या खाकी जीन पहनते थे। और जाड़ों में होमस्पन ट्वीड (हाथ के कते का मान विलायत में भी था) जिसमें कभी-कभी छिद्र भी दिखाई देने लगते थे उनके परिधान की सामग्री थी। खुले गले का कोट उसके नीचे घुटनों पर बटन लगने वाली ब्रिचेज या नीकरबुकर ऊनी मोजे, काला जूता और सर पर कभी-कभी सोला और कभी बूअर हैट-सा शोभायमान होता था। कुछ-कुछ झुर्री पड़ा हुआ सदा प्रसन्न चहरा जिसमें एक दांत कुछ बाहर को आने के उद्योग में रहता था और भूरी डाढ़ी उनकी शीघ्र पहचान करा देती थी। उन दिनों डाढ़ी सम्प्रदाय का जोर था खेद है अब हमारे विनम्र प्रिन्सीपल टी०डी० सली ही उसके एकमात्र प्रतिनिधि हैं। उनकी गर्दन में एक झोला भी रहता था जिसमें छिपकली, कैंचुए, मेंढक न जाने क्या-क्या रहता था। कभी-कभी उसमें डबल रोटी भी रख लेते थे। उनकी ऐसी ही वेषभूषा देख कर पिछले महायुद्ध में टूँडला की रेलवे पुलिस ने एक बार उनको जासूस समझ कर आगरा जाने से रोक लिया था। उनके हृदय में विद्यार्थियों के प्रति सच्चा दयाभाव रहता था। यदि कोई लड़का गलती करता तो उसकी वे पीठ ठोकते और कहते My boy I

am glad you have committed this mistake here now you are saved from committing it in the examination Hall",'one might say' उनका तकिया कलाम था वे। उर्दू शब्द 'महज' के बड़े प्रशंसक थे उनके मत से वह कि अङ्गरेजी शब्द Mere से अधिक भाव-व्यञ्जक है। व्याख्यान देते समय वे केवल एक Lads का सम्बोधन जानते थे चाहे कमिश्नर साहब बैठे हों चाहे गवर्नर, वे वार्तालाप में बड़े निर्भीक और हास्य-प्रिय थे। बाइलोजी के एफिलिएशन के लिए जब (Inspector) लोग आये और उन्होंने पूछा कि 'Well doctor where is your laboratory' तब उन्होंने एक लड़के की बांह पकड़ कर कहा 'Human body is the best Biological Laboratory. फिर जरा देख कर कहने लगे कि 'For Zoology I take my students to the Medical School and for Botany I take them to the Taj gardens. Can you find better Laboratories than those.'

वे जब, कभी-कभी मेरे यहां खाना खाने आते तो अपनी बची हुई मिठाई कागज में लपेट कर घर ले जाते। कहा करते थे कि 'Mem sahib will like it' ऐसा निजी सम्पर्क रखने वाले प्रोफेसरों के चरणों में बैठ कर ही मैं कुछ सीख सका हूँ।

१०—इरिक ड्रू

राजूसाहब के अध्ययन जब अर्थ विलायत चले गये तब ड्रू साहब जो उनके गुरु थे मद्रास से आगरा आये। उनके हुलिया में विशेष विशेषता न थी। कद कुछ नाटेपन की ओर झुका हुआ था और शरीर में कुछ स्थूलता आ चली थी। उनकी दार्शनिकता, उनकी बढ़ी हुई भोहों, छोटी आँखों और ईषत

लम्बी नाक से लक्षित होती थी। उनके बोलने में एक विशेष गति थी, वे अखीर शब्द को कुछ अधिक खींच देते थे जिससे उसकी आवाज देर तक घंटे की टंकार की तरह ध्वनित होती रहती थी। वर्गसन का उनका विशेष अध्ययन था और शरीर के स्नायुसंस्थान (Nervous system) की व्याख्या करने में उनकी विशेष रुचि थी। बोर्ड पर रङ्गीन डायाग्राम बनाने में वे बड़े पटु थे। जब वे कहा करते थे कि nervous system is the most interesting thing in the world' तब हम लोगों की हँसी आदरभाव पर विजय पाकर दबे हुए होठों से भी बाहर आ जाती थी। जब वे एक बार पहाड़ पर सैर को गये थे तो उनकी मेमसाहब ने उनकी सब से बड़ी तारीफ की बात यह लिखी थी 'Not a word of Psychology escaped his mouth. कालेज के सीमित घंटों से उन्हें सन्तोष न होता था। वे एम० ए० क्लास को तो अपने बङ्गले पर ही पढ़ाना पसन्द करते थे और जब वे अपने विद्यार्थियों को दूर से आते हुए देखते थे तभी वे 'भ्रू पर पानि' हो अधीर हो उठते थे। वे इतना भी विलम्ब नहीं सह सकते थे कि लड़के जरा घूम कर सदर दरवाजे से आयें। वे चिल्ला उठते थे 'come up men jump up boys' मानो घर में आग लगी हो। कॉट को उन्होंने बड़ी रुचि के साथ पढ़ाया था। कभी-कभी जब कोई बात समझ में नहीं आती थी तब बड़ी-बड़ी जल्दी बरबराने लगते थे 'I donot know whether the confusion is in my mind or in the mind of that Saddlers' son (कॉट चमड़े की कोंठी बनाने वाले का लड़का था) जब वे हमको सिगवर्ट लोजिक पढ़ाते तब वे अपनी मेमसाहब को पास बिठाल लेते और उसमें जो जर्मन शब्द आते उनका उच्चारण और उनकी व्याख्या उनसे कराते। राजू साहब की प्रतिभा बिजली के समान थी जो एक

क्षण में ही प्रकाश कर देना चाहती थी और इनकी प्रतिभा स्थिर-शान्त पूजा के दीपक की भाँति थी। वे अध्ययन में short cuts के कायल न थे। ठोस अध्ययन का अभ्यास मुझे उन्हीं के साथ पढ़ने से हुआ, फिर भी आरामतलबी ने इस अभ्यास को बढ़ने नहीं दिया। उनका देहावसान आगरे में ही हुआ था और उनका शरीर आगरा सिमेट्री को चिरशान्ति में शयन कर रहा है।

सेवा के पथ पर

(मेरा दरबार-प्रवेश)

यद्यपि मैं परीक्षाओं के सम्बन्ध में 'शनैः विद्या वित्तञ्च' के सिद्धान्त में विश्वास करता था और अपने विषयों के विशेष अध्ययन के लिए अतिरिक्त मास की भाँति कॉलेज में भी एक अधिक वर्ष देना श्रेयस्कर समझता था तथापि इस नियम के अपवाद स्वरूप (क्योंकि प्रत्येक नियम का अपवाद होता है) मैंने फिलासफी के एम० ए० के सम्बन्ध में अपने नियम को कुछ शिथिल कर दिया था और कॉलेज में अध्यापकी करते हुए भी परीक्षा में इस प्रकार उत्तीर्ण हो गया जिस प्रकार कि हरि-भक्त भवसागर को गोपद इव सहज ही पार कर जाते हैं।

वह समय उत्पादन-बाहुल्य (Mass Production) का न था। उन दिनों विवाह की कचौड़ियों अथवा फोर्ड कार की मोटरों की तरह एम० ए० वालों के घान-के-घान नहीं उतरते थे। 'सिंहन के लेंढे नहीं साधु न चले जमात', प्रयाग विश्व-विद्यालय से जिसके विराट उदर से अब चार और विश्व-विद्यालय उत्पन्न हो गये हैं, केवल छः विद्यार्थी दर्शन शास्त्र के एम० ए० में बैठे थे, उनमें से केवल दो उत्तीर्ण हुए थे। इस

प्रकार मैं थर्ड क्लास फर्स्ट नहीं हाँ, थर्ड-क्लास-सेकिन्ड अवश्य था। इसके लिए मैं गंगा-तुलसी उठा सकता हूँ, काशी तक शास्त्रार्थ के लिए तय्यार हूँ और यदि धन की पर्याप्त सहायता मिल जाय तो प्रिवी काउन्सिल या फीडरेल कोर्ट तक मुकद्दमा लड़ने का साहस रखता हूँ।

कॉलेज में एक साल प्रोफेसरी कर मैं अपना हक जमा चुका था। उस पद पर मैं बना भी रहता क्योंकि उन दिनों एम० ए० बरसाती मेंढकों की भाँति गली-गली नहीं मिलते थे। फर्स्ट या सेकिंड डिवीजन की कोई पाबन्दी न थी। यदि कोई डिवीजन की बात पूछता तो मैं अपने शिकारपुरी मित्र की भाँति कह देता लियाकत देखिए। कॉलेज की नौकरी लोमड़ी के अंगूरों की भाँति अप्राप्य न थी, किन्तु उसमें एक बड़ी बाधा यह थी कि मुझ में तुलसीदासजी की-सी अनन्यता का अभाव था। मैं दो नावों में पैर रखना चाहता था। एम० ए० के साथ तीन अक्षर और जोड़ने का मोह संवरण नहीं कर सकता था।

मैं इस महत्वाकांक्षा को 'कीर के कागर लौं' छोड़ भी देता क्योंकि दर्शन-शास्त्र का विद्यार्थी होकर त्याग की क्रियात्मक परीक्षा में किसी से पीछे नहीं रहना चाहता था, किन्तु मेरे पूज्य पितृ-चरणों ने 'कचं केशं हरतीति कचहरी' नाम की जिस संस्था में बाल सफेद किये थे उसके परम्परागत आदर्शों के अनुकूल एल्-एल्० बी० के बिना मेरा अध्ययन उतना ही अपूर्ण रह जाता जितना कि दक्षिणा के बिना दान। एम० ए० के चक्कर में मेरी कानूनी नैया डूब चुकी थी। परमात्मा भी मेरा बेड़ा पार न लगा सका। मैं प्रिवीयस में फेल होने का अस्पृहरणीय गौरव प्राप्त कर चुका था। उसका इम्तहान तो बिना कॉलेज एटेन्ड किये (लेकचर तो मैं पहले भी एटेन्ड नहीं करता था) ही दे सकता था। सेन्ट जान्स कालेज के अधिकारी-वर्ग ईसाई होने

के कारण बाईगेमी (दो विवाहों की प्रथा) के खिलाफ थे। उनकी दृष्टि में दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर के लिए कानून की ओर दृष्टिपात करना उतना ही पाप था जितना कि एक स्त्री के होते हुये दूसरा विवाह करना। अतएव सेन्ट जान्स कॉलेज से मुझे विदा लेनी पड़ी।

एक साल के अनुभवी कानूनी विद्यार्थी बेकार कम बैठा करते हैं। कानून का पास करना तब और शायद अब भी अनन्य उपासना का विषय नहीं समझा जाता था। दूसरी साल पास तो हो ही जायंगे! 'बासी में क्या खुदा का साझा ?' फिर स्वावलम्बी होने का सुख और गौरव क्यों छोड़ा जाय।

कानून के विद्यार्थी दूसरों की वकालत करना अपना न्याय-सिद्ध अधिकार समझते हैं, फिर भस्मासुर की भाँति इस अधि-कार को भोलानाथ सदृश वयोवृद्ध गुरुदेव श्री नीलमणि दर पर क्यों न अजमाया जाय ?

उस स्वतन्त्रता के युग में विद्यार्थीगण हाजिरी के मामले में सत्य के साक्षात् अवतार अदालती गवाह से, जो सत्य, पूर्ण सत्य और सत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं बोलते, कम सत्यपरायण नहीं होते थे। जिस रोज फीस दी जाती थी उसी रोज रजिस्टर में नाम लिखा जाता था। मुझ जैसे आलस्य-भक्त विद्यार्थी, जो गप्पों में रम जाना ही अपने जीवन का परम लक्ष्य समझते थे, बीस तारीख से पहले फीस नहीं देते थे क्योंकि वही फीस दाखिल करने की अन्तिम तिथि थी। प्रोफेसर महोदय रजिस्टर में निगाह गड़ाये हुये पूछते "Were you present all the days ?" अर्थात् क्या आप पूरे दिनों उपस्थित रहे तो विद्यार्थी भी सज्जनों की-सी अधो-दृष्टि किये बड़े उपेक्षा भाव से कह देते 'Yes Sir' और कभी यदि सचाई का अधिक परिचय देना हुआ तो कह देते कि Except the 5th (पाँचवी के सिवाय)।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी वकालत का भी अभ्यास कर लिया जाता था। आजकल की सभ्यता में जब सभी कार्य प्रतिनिधियों द्वारा होते हैं, कानून प्रजा के प्रतिनिधि बनाते हैं, उसकी स्वीकृति बादशाह के प्रतिनिधि देते हैं, और उसकी व्याख्या वादी-प्रतिवादी के प्रतिनिधि वकील करते हैं, हिन्दुओं में विवाह जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण अवसर पर किये हुये जीवन भर पाले जाने वाले वायदों से लगा कर जन्म-मरण सम्बन्धी सभी संस्कार पूरियों से हित रखने वाले पुरोहित ही करते हैं, अंग्रेज लोग हाथों से न खाकर उनके प्रतिनिधि छुरी काँटों द्वारा-ही भोजन अपने गले के नीचे उतारते हैं, तब बेचारी कॉलेज की हाजिरी की क्या बात ? वहाँ भी प्रोक्सी 'Proxy' क्यों न हो ? येनकेन प्रकारेण पास होने का तो नहीं इम्तहान में शामिल होने का वैधानिक अधिकार मिल ही जाता।

कानून महासागर में उत्तीर्ण होने के लिए सायं-प्रातः भक्ति-पूर्वक 'शोन्स गाइड' का पाठ करना सत्यनारायण की कथा से भी सुलभ उपाय था। उसके पाठ से 'परीक्षार्थी लभते डिगरीम्' की बात सिद्ध हो जाती थी। फिर फेल हुआ कानून का विद्यार्थी क्यों बेकार बैठे ? 'बेकार मुबाश कुछ किया कर, कुछ न हो तो जूतियां सिया कर।'

मैं भी नौकरी की चाह में डाकखाने की आमदनी बढ़ाने में योग देने लगा किन्तु रियासत की नौकरी मेरी गरुड़गतिगामिनी कल्पना और उच्छृङ्खलतम स्वप्नों की दूरातिदूर सीमाओं से भी परे थी। "मेरे मन कछु और है विधिना के कछु और" की बात थी और विधिना मुझ से कुछ अधिक विचारशील थे। इसलिए यन्त्रारूढ़ की भाँति (भ्रामयन सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया) मैं भी उनका इच्छानुवर्ती हो नाचने लगा (उमा दारु योषित की नाईं। सबै नचावें राम गुसाईं)। मैं उसी दैवी प्रेरणा के वश बिना

किसी रोग के भी डाक्टर तृषार्तनाथ सिंह से मिलने अस्पताल पहुँच गया। डाकृर साहब बड़े लोकप्रिय थे और न वे प्राणों के हर्ता थे और न धन के। वे सेवाभाव से अपने कार्य को करते थे। उनके दर्शन करना मैं देवदर्शन से कम नहीं समझता था। संयोगवश डाक्टर साहब राउन्ड पर गये थे। उनकी मेज पर अधिकारी वर्ग में साम्मान्य 'पायोनियर' सुशोभित था। हम गरीब लोगों को 'पायोनियर' देखना इतना ही दुर्लभ था जितना कि अमीर आदमी का स्वर्ग में जाना क्योंकि उसका चन्दा ४८) रु० साल था। मैं कौतूहलवश पायोनियर के पन्ने उलटने लगा। उसमें छतरपुर राज्य के लिए दर्शन-शास्त्र के एक ऐसे अध्यापक की माँग थी जो पूर्वीय और पश्चिमी दर्शनों में दक्ष (Well-versed) हो। पश्चिमी दर्शन में तो मैं अपने को दक्ष कह सकता था क्योंकि घर के नाई से भी अधिक मौतबिर विश्वविद्यालय का पट्टा (प्रमाण पत्र) मेरे पास था किंतु पूर्वी दर्शनों के काले अक्षर मेरे लिए भैंस बराबर थे। पीछे से उसी अज्ञान के आधार पर भैंस का दूध पीने को मिला।

मुझे एक बार इनाम में आगरा कालेज से मेक्समूलर की 'सिक्स सिस्टिम्स ऑफ इण्डियन फिलासफी' मिल चुकी थी। उससे केवल इतना ही काम लेता था कि लोग उसको मेज पर देख कर जान लें कि मैं इनाम पाने वाले विद्यार्थियों की गणना में हूँ। उसके पन्ने मैं कभी-कभी पलट लेता था और शायद छओं दर्शनों के नाम मेरे स्मृति-पटल पर अंकित हो चुके थे। एक बार काशीपुरी में क्वीन्स कालेज के प्रिंसिपल डाक्टर वीनिस से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी निगाह में एक सदाशय और श्रद्धालु विद्यार्थी जँचने तथा उनको गुरु मानने का गौरव देने के लिए मैंने उनसे सलाह ली थी कि हिन्दू-दर्शनों के विधिवत् अध्य-

यन के लिए पहले कौन-सी किताब पढ़ना चाहिए। उनके मुखारविन्द से निकला था अन्नंभट्ट का 'तर्क-संग्रह'। मैंने उनके शब्दों को उसी श्रद्धा से हृदयंगत कर लिया जैसे कि महात्मा कबीर ने स्वामी रामनन्द के मुख से निकले हुए राम शब्द को। मुझ में उस समय न इतनी बुद्धि थी और न सावधानी कि उनसे पूछता 'तार पर' अर्थात् उसके बाद क्या? यद्यपि मैं स्वयंपाकी (स्वयं पापी नहीं) ब्राह्मण न था जो रोटी पकाने के लिए आग पर्वत पर ढूढ़ता फिरता तो भी मैंने 'पर्वतो वह्निमान धूमात्' का पाठ याद कर लिया था। पिताजी के मुख से 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय' वाला श्लोक कई बार सुना था। यह शायद श्रद्धालु भक्त के लिए 'भग्वद्गीता किंचिदधीता गंगाजललवकणिकापीता' के अनुसार भवसागर पार होने के लिए पर्याप्त होता किन्तु दर्शन शास्त्र के पण्डित कहलाने के लिए काफी न था। यह कुछ प्रेम का ढाई अक्षर तो था नहीं जो मुझे पण्डित बना देता।

फिर निराशा क्यों? का भावी लेखक होता हुआ भी मुझ में आशावाद अन्धसाहस की मात्रा तक नहीं पहुँचा था। मैं अपनी न्यूनताओं को कभी भूलता नहीं हूँ। उस मानसिक साज-सामान के आधार पर उस गौरवपूर्ण स्थान को प्राप्त करने की आशा करना तो क्या उसके लिए अर्जी भी भेजना मैं इतना हास्यास्पद समझता था जितना कि ऊँचे पेड़ से फल तोड़ने के लिए किसी बौने का हाथ पसारना (प्रांशुलभ्ये फले मोहादुद्बाहुरिववामनः) मैं यह तब नहीं जानता था कि छतरपुर किस भूभाग में अवस्थित है। मैं समझता था हो न हो शायद राजपूताने में होगा। 'किमतः परं अज्ञानं!' परलोक में विचरने वाले दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी को इस दुनिया की बातों से क्या काम? फिर भी डा० महोदय के प्रोत्साहन में आकर मैंने अर्जी भेज ही दी। 'अहो मूढ़ता या मन की।' मैं समझता हूँ कि बाबा तुलसीदासजी को

भी मधुमेह था इसीलिए थामनः (जामन) पुकारा करते थे।

मैं तो अर्जी देकर उसे ऐसे भूल गया जैसे सज्जन लोग अपने किए हुए उपकार को अथवा दूसरे के किये हुए अपकार को लेकिन समय पाकर कर्म अपना फल देते ही हैं। एक महीने पश्चात मुझे छतरपुर के प्राइवेट सेक्रेटरी का पत्र मिला। लिफाफा देखते ही उसका मजमून मेरे मानसिक क्षितिज में बिजली की तरह चमक उठा। मैंने समझा कि मेरा भाग्य जागा, डाक्टर रूपी देवता के दर्शन का फल मिल गया। लिफाफा खोलने पर अनुमान ठीक निकला। उस पत्र में उन्होंने पूछा था कि मैंने उनके पहले पत्र का उत्तर क्यों नहीं दिया। महाराज साहब मुझ से मिलने के लिए उत्सुक हैं। सेक्रेटरी साहब ने छतरपुर का रेल मार्ग बतला देने की कृपा कर दी थी, नहीं तो मुझे दो-चार आदमियों के सामने अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना पड़ता।

सम्भव है कि उन्होंने उल्लिखित पहला पत्र लिखा हो और ऐसा भी संभव हो सकता है कि जैसा पीछे से मैं स्वयं प्राइवेट सेक्रेटरी होकर करने लग गया था कि यदि महाराज साहब किसी मुझ जैसे थर्ड क्लास आदमी * को बुलाने के लिए कहते तो मैं

---

* हमें ठीक मालूम है, 'उग्रजी' को तो एक बार ऐसे अधिकारियों ने निमन्त्रण भेज भी दिया था मगर उनका उत्तर जिसमें उन्होंने महाराजा से मिलना अस्वीकार करते हुए भर्तृहरि का यह श्लोक लिखा था कि—"न नटा विटा न गायका नच सभ्येतरवाद चञ्चवः, नृप सद्मनिनाम के वयं कुचभारोन्निमिता न योषिताः"—मगर यह उत्तर मारे भय के छतरपुर राज्य के अधिकारी महाराजा के सामने न रख सके। कह दिया—"उत्तर ही नहीं आया" इसके बाद राजाने पुनः विवश किया उन्हें पत्र व्यवहार करने को और उन लोगों ने माफियां माँग-माँग कर 'उग्रजी' से एक नम्र और सीधा पत्र राजा के लिए प्राप्त किया। —वीणा सम्पादक

उनकी आज्ञा की अवहेलना कर जाता और महाराज के दुबारा कहने पर ही पत्र लिखता और उसमें संकल्पित या कल्पित पहले पत्र का उल्लेख कर देता।

छतरपुर जाने की तैयारी होने लगी। मेरे पितृदेव ने मेरे भविष्य को देदीप्यमान देखने की शुभाकांक्षा से मेरी तैयारी में खूब दिलचस्पी ली। उन्होंने एक रियासती सज्जन से पूछ कर मेरे लिए कुछ हिदायतें लिख दीं। उनको मुझे वेद-वाक्यों से भी अधिक महत्व देना पड़ा। वेषभूषा और ठाट-बाट के ऊपर भी एक बड़ा नोट था। अचकन और चूड़ीदार पायजामा के अतिरिक्त उसमें चाँदी की मूँठ की छड़ी और पम्प शू पहनने तथा साफा बाँधने की हिदायत भी दी थी। बिना नौकरी के बन्धन में पड़े मैंने साफा बाँधना तो कष्ट कर समझा, किन्तु पम्प शू अवश्य खरीद लिया। सादा जीवन तथा मितव्ययिता के निरन्तर उपदेष्टा मेरे पूज्य पितृ-देव ने पेटेण्ट लेदर के पम्प शू खरीदने की सहर्ष अनुमति दे दी। पम्प शू वहाँ खूब काम आया क्योंकि महल में जूते उतार कर जाना पड़ता था। भव्यता की कमी पूरी करने के लिए मेरे साथ एक नौकर भी कर दिया गया।

अलमति विस्तरेण। किस्सा कोताह मैं छतरपुर पहुंच गया हिज हाइनेस महाराजा साहब के सामने मेरी पेशी हुई। दरबार की सादगी ने मेरे सुख-स्वप्नों को चूर कर दिया। वह दरबार राजर्षियों का-सा था। चन्दोवे के नीचे महाराज की आराम-कुर्सी थी। दाईं ओर दो पटों पर दो भव्य-मूर्तियाँ विराजमान थीं उनमें एक महाराष्ट्र शास्त्री जी थे जो वशिष्टोपम दिखायी देते थे, दूसरे थे कृशतनु, लम्बे शरीर वाले एक साधु जिनके शरीर की लम्बाई उनकी कृशता को बढ़ा कर उनके तपोधन होने का आभास दे रही थी। उनके लम्बे शरीर के अनुकूल उनकी धवल प्रलम्बमाना डाढ़ी थी जो उनको विश्वामित्र की अनुरूपता

प्रदान करती थी। पास ही में एक छोटी थाली में चार-पाँच छोटी कटोरियों में लवङ्ग आदि पान की सहकारी खाद्य-वस्तुएँ रखी थीं हुक्कावाला महाराज के मुखमण्डलकी गति का अध्ययन करता हुआ उसी के साथ निगालो को झुकाता जाता था।

बड़ी प्रसन्नता और कृपाभरी मुद्रा से महाराज ने मेरा स्वागत किया। मेरी भेंट की हुई गिन्नी को स्पर्श कर के माफ कर दी। वार्तालाप अङ्गरेजी में शुरू हुआ। दर्शन-शास्त्र में महाराज की गति तो बहुत अच्छी थी, अंग्रेजी भी विना प्रयास के बोलते प्रतीत होते थे, किन्तु वे उन्नीसवीं सताब्दी के प्रभाव में अधिक थे। उन्होंने मुझ से पूछा—कि मैंने हर्बर्ट स्पेन्सर का अध्ययन किया है? मैंने नम्रतापूर्वक कहा कि इस बीसवीं शताब्दी में उनका अधिक मान नहीं है। उनकी द्विविधि मृत्यु हो चुकी है—भौतिक भी और यश सम्बन्धी भी। उनका यशः शरीर मरा नहीं है तो जराग्रस्त अवश्य हो गया है। महाराज ने बड़े आश्चर्य की मुद्रा धारण कर मुझ से पूछा कि बिना हर्बर्ट स्पेन्सनर के पढ़े एम० ए० कैसे हो गये? मैंने कहा कि इस संसार में हर्बर्ट स्पेन्सनर से अधिक महत्व के कई दार्शनिक हुए हैं। महाराज ने पूछा कि मैं किस दर्शन का अनुयायी हूँ? मैंने रोब जमाने के लिए प्रेगमेटिज्म (Pragmatism) का नाम ले दिया। बहुश्रुत महाराज को अश्रुतपूर्व सिद्धान्त सुनाने का तो श्रेय न पा सका क्योंकि महाराज प्रेगमेटिज्म का नाम सुन चुके थे, किन्तु उसका प्रभाव अच्छा पड़ा। महाराज पर मेरी विद्वत्ता की धाक जम गयी। वे पूछने लगे कि तुमने बिना बिलायत गये प्रेगमेटिज्म को कैसे जाना? मैंने उत्तर दिया कि हम भारतवासी उनके दर्शनों में इतने पिछड़े हुए नहीं हैं जितने वे समझते हैं। मेरे गुरुदेव प्रेगमेटिज्म के ही गीत गाते हैं। अंग्रेजी दर्शनों का ज्ञान तो प्रमाणित हो ही चुका था। भारतीय दर्शनों के ज्ञान के लिए

महाराज्ा बहुत उत्सुक तो नहीं जान पड़े तो भी मैंने प्रसंग निकाल कर गीता का एक श्लोक और कठोपनिषद् की एक श्रुति का कुछ अंश "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न च बहुधा श्रुतेन" बिना अटके कह डाला। उसको सुनते ही विश्वामित्र-स्वरूप रामा बाबा तो गद्गद् कण्ठ से महाराज को सम्बोधित करके कहने लगे, 'दयाल जे तो संस्कृत हू जानत हैं'। शास्त्रीजी ने धीरे से कहा, 'बड़े आस्तिक बुद्धि के मालूम पड़ते हैं।' शास्त्रीजी ने इतनी कृपा की कि उन्होंने मुझ से संस्कृत बोलना नहीं शुरू किया, न कोई शास्त्रीय प्रश्न पूछा, नहीं तो कलई खुल जाती। उनको शायद इतनी ही बात पर सन्तोष हो गया कि एक अंग्रेजी पढ़ा इतनी आस्तिक बुद्धि रखता है। महाराज ने मुझको पान दिये। मेरे पिताजी के मित्र ने मुझे सब हिदायतों के साथ यही नहीं बतलाया था कि जब पान मिलें तब उसे उठने का संकेत समझना। मैंने उसे साधारण शिष्टाचार समझा और बैठा रहा। फिर शास्त्रीजी मेरी अज्ञता पर बड़प्पन के साथ मुस्कराते हुए कहने लगे कि महाराज आपको कल फिर बुलायेंगे। इस संकेत को समझ गया और सभा को महाराजमय जान कर 'जोरि जुग-पाणी' सबको प्रणाम कर विजय-गर्व से प्रसन्नमुख अपने वास-स्थान को आ गया। मैं अपनी समझ से अग्निपरीक्षा में तो खरा उतरा किन्तु नौकरी का भाव-ताव किसी ने नहीं किया। हाँ मुझे राज-महमान होने का गौरव प्राप्त हो गया। सम्मानित व्यक्तियों की लाग (सीधा) जो एक पहलवान के लिए पर्याप्त होती मुझे मिलने लगी। महीना भर बाद फिर उन्हीं शास्त्रीजी की मध्यस्थता में मेरी नियुक्ति हो गयी।

———

'सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः'

(छतरपुर में मेरे अट्ठारह वर्ष)

नौकरी की जड़ें बहुत गहरी नहीं बतलाई जातीं । देशी रियासतें तो अस्थायित्व के लिए बदनाम हैं । कुछ लोगों का कथन है, वहाँ के मुलाजिम घड़ी-घड़ी की खैर मनाते हैं। ताँगे के आविष्कार के संबंध में एक किंवदंती है कि उसे पहले-पहल एक रियासत के दीवान ने बनवाया था जिससे वह राज-दरबार से लौटते समय पीछे की ओर मुँह किये हुए यह देखता रहे कि कहीं कोई सवार या हरकारा उसकी बरखास्तगी का परवाना तो नहीं ला रहा है । बात सोलह आना ऐसी नहीं । 'बद अच्छा, बदनाम बुरा ।' कम-से-कम स्वर्गीय हिज हाइनेस राजर्षि महाराजा सर विश्वनाथसिंहजू देव के समय (और शायद अब भी) छतरपुर-राज्य नौकरी के अस्थायित्व का अपवाद बना हुआ है।

मैंने कई बार रस्सा तुड़ा कर भागने की कोशिश की, परम विनम्र भाव से महाराजा साहब से निवेदन किया "जो काम मैं करता हूँ, उसे कोई मूर्ख से भी मूर्ख अधिक सफलता के साथ कर सकता है, मुझे घर जाने की छुट्टी दीजिए ।" किन्तु उन्होंने यही कहा—"तुम बड़े मूर्ख हो, जो ऐसा सोचते हो । प्रत्येक

काम में व्यक्तित्व की छाप रहती है। प्राइवेट सेक्रेटरी का काम तो बहुत भारी है, मुझे जूते पहनाने का काम भी जो करता है, वही कर सकता है और कोई नहीं।"

मेरा तो यह अनुमान है कि देशी रियासतें पूर्णरूपेण अपरिवर्तनवादी (Conservative) होती हैं। वहां बंधेज लगते देर नहीं होती, और अगर कोई बंधेज बँध गया, तो शंभु-शरासन या अंगद के पैर की भांति अटल हो जाता है जिसकी स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए राम या रावण-सा ही विश्व-विख्यात योद्धा चाहिए। यदि श्रीमान महाराजा साहब रसोई में एक बार गुड़ की डली माँग लें, तो चार या पाँच वर्ष तक सेर-भर गुड़ का बंधेज लगा रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

नौकरी तो क्या, वहाँ की मेहमानी में भी स्थायित्व था। 'एक रोज का मेहमान, दूसरे दिन इंसान, तीसरे दिन का बेईमान और चौथे दिन का हैवान' का मसला देशी रियासतों पर नहीं लागू होता। वहां के मेहमान समय की अनन्तता में विश्वास रखते हैं। मेरी नियुक्ति के पश्चात् भी डेढ़ वर्ष तक मेरी 'लाग' (भोजन-सामग्री) ईश्वर के प्रेम की भांति नित्यप्रति सूर्योदय के साथ आती रही।

ब्राह्मण-वृत्ति धारण करते हुए भी मुझ में पूरा ब्राह्मणत्व नहीं आया था। मेरा उदर प्रेम-पयोधि की भाँति नाप-जोख के बाहर न था, जिसके सम्बन्ध में श्री अन्नपूर्णानन्दजी के शब्दों में कहा जा सकता —

दावा बहुत है इल्मे-रियाजी में आपको;
बाम्हन का पेट आके जरा नाप दीजिए।

भोजन-सामग्री सम्मान के अनुरूप निश्चित होती थी, किन्तु सम्मान पाने पर जठराग्नि प्रायः मन्द पड़ जाती है। 'धनक्षये दीव्यति जाठराग्निः' किन्तु इसका उल्टा भी बहुत अंश में ठीक

है, धन संचय होने पर जठराग्नि मन्द हो जाती है पूर्ण प्रज्वलित होने पर भी मेरे लिए डेढ़ सेर आटा और डेढ़ पाव घी भस्म करना टेढ़ी खीर था उससे पीर-बबर्ची-भिश्ती-खर-स्वरूप 'गरीब' पंडा का अवश्य भला होता था, किन्तु मैं इतना ब्राह्मण भक्त न था कि उसकी चिन्ता भी न करूं। दार्शनिक के नाते कुछ दिनों तो 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्' की समस्या की भाँति मुझे भी यह प्रश्न व्यग्र करता रहा कि मेरा वेतन मुझे भोजन सामग्री की दक्षिणा के स्वरूप मिलता है या वह रोज़ का आटा-दाल वेतन के परिशिष्ट रूप में प्राप्त होता है ? तर्क-शास्त्र के विद्यार्थी को अन्वय-व्यतिरेक के सहारे इस निर्णय पर पहुँचने में देर न लगी कि भोजन-सामग्री तनख्वाह के साथ लगी है, किन्तु उसका आवश्यक अङ्ग नहीं, वह छिपकली की पूँछ की भाँति सहज में अलग हो सकती है। मैंने महाराज और दीवान की खातिर-खुशामद कर भोजन-सामग्री की रकम तनख्वाह में शामिल कराली। मेरी तनख्वाह सत्तर से एकदम सौ हो गई, और मैं महाराज के दार्शनिक सहचर (Philosophical Companion) का गौरवान्वित पद छोड़ कर उनका प्राइवेट सेक्रेटरी बन गया, 'गा-बजा कर काठ में पैर देना' स्वीकार कर लिया। क्लर्क, मुहर्रिर, बिल, रजिस्टर, टाइपराइटर के आडम्बर से सुसज्जित होकर मैं दफ्तरी (यानी दफ्तर से सम्बन्ध रखने वाला) बन गया। पीछे मुझे श्रीशिवकुमार शर्मा, जिन्हें हम लोग गोस्वामीजी कहा करते हैं, असिस्टेण्ट मिले, लेकिन मैं अपनी अधिकार-लोलुपता-वश उन्हें पर्याप्त काम न दे सका। यह मेरे और उनके, दोनों के ही खेद का विषय रहा।

वैसे तो अट्ठारह वर्ष में अट्ठारह ही शिशिर-वसन्त आये होंगे, लेकिन हरएक बसन्त नई छटा लेकर आता था। रियासत में रह कर इतना मूर्ख न रहा कि मुझे बसन्त की भी खबर न

रहे, क्योंकि उस रोज धूम-धाम से शिवजी पर जल चढ़ता और प्रायः नारद-मोह का नाटक भी खेला जाता था। सूर्य और चन्द्र-देव अपनी स्वर्ण-रजत-रश्मियों के ताने-बाने से नित्य नयी समस्याओं का जाल बुन देते थे।

प्राइवेट सेक्रेटरी के नाते मेरी निजी ड्यूटियाँ तो थी हीं, किन्तु तबेले के बन्दर की भाँति दूसरों की अलाय-बलाय भी मेरे सिर पड़ जाती थी। सब बात के लिए 'ऐसा क्यों?' का उत्तर मुझे ही देना पड़ता, यद्यपि मेरे पास किसी अफसर का वकालतनामा न था। बात यह थी कि दो-एक बार मैंने अफसरों की वकालत स्वेच्छा-पूर्वक करदी थी, क्योंकि मैं उनकी कठिनाइयाँ समझता था। इस वकालत के लिए कोई समय निश्चित न था। महाराज सुनते सब की थे, करते अपने या अफसरों के मन की। किन्तु वे उस अफसर को, जिसके सार्व-जनिक कृत्य जनता की समालोचना का विषय बने हों, उन आलोचकों से मिला अवश्य देते थे। इससे बहुत-कुछ दोनों ओर की सफाई हो जाती थी। वैयक्तिक राजसत्ता में चाहे दोष हो किन्तु उसमें शासक की दया का लाभ भी प्रजा को मिल जाता है।

मेरे कर्तव्य दो प्रकार के थे—एक खासगत के, दूसरे रियासत से सम्बन्ध रखने वाले। खासगत से सम्बन्ध रखने वाले कामों में महाराज के पत्र-व्यवहार में मदद देना, बिलों और पर्चों पर दस्तखत करना, मेहमानों की खातिर और उन्हें महाराज से मिलाना, मोटरों, घोड़ों और गायों के खर्च का हिसाब रखना आदि बहुत से काम शामिल थे। रियासत से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों की भी सूची कुछ कम नहीं। पत्र-लेखन में महाराज स्वयं बड़े कुशल-हस्त थे। लेख उनका बड़ा सुन्दर था फिर भी आवश्यक चिट्ठियों का मसौदा तैयार करा कर वे अपने प्राइवेट

सेक्रटरी को गौरव दे देते थे। महाराज के पत्र-लेखन का कार्य गरमियों में प्रातःकाल के ४ बजे से और जाड़ों में ५ बजे से प्रारम्भ होता था। महाराज स्वयं चिट्ठी पर मुहर लगाते थे। किन्तु कभी-कभी यह काम मेरे सुपुर्द हो जाता तो मुझे मसौदा तैयार करने से भी अधिक दुष्कर मालूम होता था।

प्राइवेट सेक्रेटरी का सब से कठिन कार्य था मेहमानों की खातिरदारी और बिदाई। यद्यपि इस कार्य का अधिकांश भार पंडित माधव मिश्र और पंडित रामनारायण पर रहता था तथापि इस कार्य में गुत्थियाँ पड़ जाने पर उन्हें सुलझाने के लिए प्राइवेट सेक्रेटरी का ही आवाहन किया जाता। महाराज के अतिथियों के आने की तो तिथि निश्चित रहती थी, किन्तु जाने की सदा अनिश्चित। तिथि को पीछे हटाने में तिथि, वार, योग, नक्षत्र, करण, व्यतीपात, चन्द्रमा बहुत-कुछ सहायता देते थे। कभी-कभी धोबी कपड़ा देने में देर कर इस पुण्य कार्य में सहयोग कर देता था। बहुत-से लोगों का मेहमानी एक तरह का पेशा बन गया था। वे छः महीने रह कर साल भर का बन्दोबस्त कर लेते थे। रियासत उनके लिए कामधेनु थी। महाराज भी इस फिजूलखर्ची से खुश न थे, किन्तु आँखों का शील-संकोच नहीं तोड़ना चाहते थे। बेमुरव्वती का काम दीवान और प्राइवेट सेक्रेटरी का था। वे लोग भी बिना शान्ति भंग किये जितनी काट-छाँट कर सकते थे, करते। ऐसे मेहमानों में आत्मसम्मान की मात्रा बहुत अधिक थी। उसकी रक्षा करना हम लोगों का धर्म था।

योरपियन मेहमानों में कुछ तो अफसर लोग होते थे, और कुछ गैर-अफसर। यद्यपि अफसरों के आने पर रियासत के अधिकारी-वर्ग की दौड़-धूप और चिन्ताओं का भार बहुत बढ़ जाता था तथापि उनके आने और जाने की तिथि निश्चित होने

के कारण यह भार कुछ हलका हो जाता था। राजनीति-विभाग के अफसर लोग मिष्टभाषी, कार्य-कुशल, वाकपटु, कायदे-कानून के पाबन्द, मानापमान के सम्बन्ध में संवेदनशील, अपने (ब्रिटिश सरकार के) मतलब के चौकस और प्रायः राजा के हितचिन्तक होते हैं। अधिकार-प्रियता, शिकार और कैम्प की सुविधा इनकी कुछ कमजोरियाँ कही जा सकती हैं। सौभाग्यवश महाराज की वैष्णव-प्रवृतियों के कारण मुझे शिकार में सहयोग नहीं देना पड़ा। H928|G96M

गैर-सरकारी मेहमानों में हरएक टाइप के लोग मिलते हैं। कुछ तो थे प्रोफेसर मलबेनी और फादर डगलस के-से साधुवृत्ति वाले, जिन्हें नर-भूषण, लोचन-सुखदायक कह सकते हैं। वे न ऊधो के लेन में थे, न माधो के देन में, सदा प्रसन्न रहते थे। कुछ लोग गेस्ट-हाउस को पाकशास्त्र की प्रयोगशाला बनाये रखना ही अपना दैनिक कर्तव्य समझते थे। एक महाशय तो कटग्लास के एक अदद की इजाजत लेकर अपने स्वार्थ से ग्लास का समूह-वाचक अर्थ (Collective sense) लगाकर रियासत को उसकी रक्षा के भार से मुक्त करना चाहते थे। एक देवी खजराहे की प्रस्तर-मूर्तियों को अपनी एकांत-साधना का विषय बनाना चाहती थीं। ऐसे लोगों से झगड़ा करना भी प्राइवेट सेक्रेटरी के पुनीत कर्तव्यों में ही था। G11537

यद्यपि जप, पूजा और अनुष्ठान का भार मेरे ऊपर न था, तथापि उसके छींटों से मैं अछूता न रहता था। उस विभाग का खर्च देख कर तो मेरी वणिक्-बुद्धि कभी-कभी विद्रोह करने लगती थी, फिर भी इतना संतोष था कि सब कार्य विधिवत होता था। यज्ञ-सम्बन्धी शास्त्रोक्त पात्रों का भी दो-एक बार आयोजन करना पड़ा था। उससे मेरी ज्ञान-वृद्धि हुई।

जिस अधिकार से मैं अपने को स्थायी समझता था, उसी

अधिकार से परमा मेहतर भी वहाँ अचल था। दो बार सारी तपस्या को तुला में रख कर ही मैं दो मोटर-ड्राइवरों को निकलवा सका। हर महीने एक टायर और चार ट्यूब का उन लोगों ने बंधेज-सा बाँध लिया था। उनका मील नापने का यंत्र सदा आउट ऑफ़ ऑर्डर रहता था। उनकी ऐसी कोई आवश्यकता न थी जो मोटरकार से पूरी न हो सके। मोटर के हुड के लिए नारियल का तेल मिलता था, जो उनके केश-कलाप को सँभालने में भी काम आता था। मोटर के आबरों के कुरते या चद्दरें बनती थीं। एक मोटर-ड्राइवर को निकालने में मुझे ही पछताना पड़ा। उसके स्थान में एक कम तजुर्बेकार ड्राइवर रख लिया। उसने महाराज की सोलह हज़ार की मोटर झाँसी के पास नाव से नदी में गिरा दी। कोई जान खतरे में नहीं आई, यही ग़नीमत थी। फिर भी महाराज ने इतना ही व्यंग्य किया—"और बदल लो ड्राइवर!" मेरे ऊपर सैकड़ों घड़े पानी पड़ गया। एक्सीडेंट तो तजुर्बेकार से भी होते हैं किन्तु उस समय ड्राइवर बदलना भूल ही सिद्ध हुई। घर के नौकरों का तजुर्बा शायद बाबा सूरदासजी को भी था। उन्होंने अपने को मुँह-लगे नौकर की तरह ढीठ कहा है—"तुव प्रताप-बल बदत न काहू, निडर भए घर-चेरे।" महाराज के यहाँ पूर्ण नौकरशाही थी लेकिन इतनी ग़नीमत थी कि वे अपने-ही-अपने विभाग में स्वतंत्र थे, उनका राजकार्य में कोई हस्तक्षेप न था। हरएक चीज का बंधेज था, चाहे उसका खर्च हो या नहीं। प्राइवेट सेक्रेटरी को सब से वाग्युद्ध कर आखिर में समझौता करना पड़ता था। यह जानते हुए भी कि सोडावाटर-मशीन में घी की चिकनाई (Lubrication) नहीं दी जाती, पानी के पुरोहितजी को हर सप्ताह आध पाव घी देना ही श्रेयस्कर समझता था।

प्राइवेट सेक्रेटरीशिप के अवसर में मेरे द्वारा कई बार

मनोरंजक भूलें भी हुई हैं। एक बार आगरे से तार देकर बीस सेर मोंठ की दाल मँगवाई। मेरा अधिक दोष तो न था, किन्तु आगरे से ही मँगाने के कारण रियासत के एक हित-चिन्तक ने, जो वहाँ रहते थे, उसे दालमोठ समझा। बीस सेर दालमोंठ आ गई। भाग्य से डाइविटिक लोगों की कमी न थी। डाक्टर भट्टाचार्य की शिफारिस से उसके ठिकाने लगने में देर न हुई।

महाराज रहते तो बहुत सादे वेश में, लेकिन चमक-दमक पसंद करते थे। सनबोम का एडवर्टिज़मेंट देखकर वे यह समझे कि उसका रंग सुनहला होगा, किन्तु मँगा लेने पर बिलकुल भँवर-काली निकली। बड़ी हँसी रही। महाराजा साहब ने नामों की निरर्थकता बताते हुए 'कंडा बीने लच्छमी' वाली कहावत सुनाई।

यह सब फ़िजूलख़र्ची होते हुए भी महाराज बड़े खर्चों में सचेत रहते थे। बाहर के सौदागर आते थे। हज़ारों का सामान पसंद होता। कई दिन सामान की उलट-फेर की जाती, आख़िर लिया उतना ही जाता था, जितनी गुञ्जाइश होती। खर्च के सम्बन्ध में वे हम लोगों की राय मान्य समझते थे। एक बार एक अँगरेज़ सौदागर ने उनसे पूछा—"आप महाराजा हैं, या आपका प्राइवेट सेक्रेटरी?" महाराज ने हँसते हुए उत्तर दिया—"हूँ तो मैं ही महाराजा, किन्तु जहाँ तक रुपए-पैसे का मामला है, मैं अपने दीवान और प्राइवेट सेक्रेटरी के शासन में चलना पसंद करता हूँ, ताकि आख़िर में मैं इन्हें जिम्मेदार ठहरा सकूँ।" सौदागर अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

रियासत की नौकरी में यदि कठिनाई थी, तो केवल इतनी कि अक्सर विपरीत हित के लोगों को प्रसन्न रखना पड़ता था। अपरिवर्तनशील पंडित और साधुओं तथा प्रगतिशील दीवानों

और पोलिटिकल अफसरों को एक साथ खुश रखना कठिन कार्य था। यद्यपि दीवान और महाराजा, महाराजा और पोलिटिकल एजेंट में कोई विशेष संघर्ष तो नहीं रहता था, तथापि इन दोनों की रुचि के बीच में संतुलन रख कर ही कोई उच्च राज-कर्मचारी सफल हो सकता है। मैं नहीं कह सकता, इस संतुलन में मैं कहाँ तक सफल रहा? महाराज के देहावसान के पश्चात् मुझे अवकाश ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि उनके साथ ही उनके प्राइवेट सेक्रेटरी का पद भी गया। मुझे अट्ठारह वर्ष में बीस वर्ष के हक की पेंशन मिल गयी। इसके लिए मैं अधिकारियों का अनुगृहीत हूँ। छतरपुर की मधुर-स्मृति चिरकाल तक रहेगी।

सैर का मूल्य

(मेरी चोरी)

चोरी चित्त की भी होती है और वित्त की भी। यद्यपि साहित्यिक लोग चित्त की चोरी को अधिक महत्ता देते हैं, तथापि मैं आपको वित्त की ही बात सुनाऊँगा। लेकिन घबड़ाइए नहीं ऐसी बात नहीं कहूँगा जिसमें आपको दिल थामने की जरूरत पड़े। अपनी करुणा का उद्रेक फिर किसी दिन के लिए सुरक्षित रखिए।

मेरा नुकसान तो थोड़ा नहीं था 'मुर्गी के लिए तकुए का ही घाव बहुत होता है' किन्तु उस पर सम्मोहन कला-विशारद, परम भिषगाचार्य कालदेव के जादू भरे हाथ का सर्व-संकट-हरण स्पर्श हो चुका है। यह बात इतनी पुरानी होगई है कि सन्-संवत् भी भूल चुका हूँ। शायद १६२७-२८ का जमाना था। तब तक मैं अनाथ नहीं हुआ था मेरे माता-पिता जिन्दा थे। वैसे भी मैं नौकरी की नाथ से नथा हुआ था। उन दिनों मैं छतरपुर राज्य के निजी आमात्य (Private Secretry) के गौरवान्वित पद को अपने अकार्य-कुशल अस्तित्व से लज्जित कर रहा था। मालूम नहीं कालिदास ने किस भावना से प्रेरित होकर मेघदूत लिखा था, किन्तु मेरा अनुमान है कि वे किसी राज्य में

नौकर होंगे, और उन्हें छुट्टी न मिली होगी, तभी उनके हृदय में मेघ को दूत बना कर अलकापुरी नहीं, तो काश्मीर (जहाँ के वह रहने वाले बतलाए जाते हैं) भेजने की कल्पना जाग्रत हुई होगी। मेरे आश्रयदाता स्वर्गीय हिज़ हाइनेस राजर्षि सर विश्वनाथसिंह जू देव बड़े उदार थे, लेकिन छुट्टी देने में बड़े कृपण भी थे। और चीजें तो बिना माँगे ही मिल जातीं थीं, क्योंकि मेरा संकल्प था कि सिवाय छुट्टी के और कुछ न माँगूगा, किन्तु मौत की भाँति छुट्टी माँगने पर नहीं मिलती थी। नौकरी के स्वर्ण-पिञ्जर में बन्द कीर-सी मेरी स्वच्छन्द आत्मा विवशता से छटपटाया करती।

मेरे जीवन में वह अवस्था आचुकी थी जब क्षुद्र नदी की भाँति खल लोग बौरा उठते हैं और उनके हृदय में वैभव और विलास की इच्छा उठने लगती है। जलेसर के मकान के लिए थोड़ा कर्जा लिया था वह अदा हो चुका था। बुन्देलखण्ड ऐसी फिजूलखर्ची-प्रूफ जगह है कि वहाँ धन-संग्रह के लिए बेईमानी की भी जरूरत नहीं पड़ती। कुछ वणिक-जाति की स्वाभाविक व्यवसाय बुद्धि, कुछ स्त्री के आभूषण-प्रेम और कुछ कन्या के विवाह की दूरदर्शिता से मैंने पूरे पैंतालिस तोला सोना खरीद लिया था, चार-पाँचसौ रुपया भी पास-बुक में था, हृदय में जवानी की उमङ्ग थी। जब छतरपुर में बहुत से अँग्रेज दम्पतियों को सैर के लिए आते देखता था तब मैं भी सोचने लगता है कि मैंने ही कौन से राम के बैल मारे हैं जो इस सुख से बञ्चित रहूँ। महाराजा के साथ बहुत सैर की थी किन्तु उसमें सपरिवार होने का सुख और गौरव कहाँ? दूसरे की अधीनता में सुख का उपयोग आत्म-भाव की तुष्टि नहीं करता। महाराज के साथ का सफर महाराज के लिए सैर थी किन्तु मेरे लिए घोर-कठोर कर्त्तव्य था। अस्तु।

ठाट-बाट के साथ सपरिवार बाहर जाने का सुअवसर देखने लगा। मेरठ से मेरी धर्मपत्नी की, भतीजी की, शादी का निमंत्रण आया वह उपेक्षणीय न था। यद्यपि काम के नाम तो मैं फली भी नहीं फोड़ता तथापि मेरी उपस्थिति वहां वांछनोय थी।

छुट्टी के लिए खींच-तान होने लगी महाराज साहब के सभी महत्त्वपूर्ण कार्य उसी मुहूर्त्त के लिए रुके हुए से जान पड़े।

नरेशों की चाकराधीनता, जिसके बल मैं अपना स्थान सुरक्षित समझता था मुझे अखरने लगी। दीवान साहब पण्डित सुखदेव विहारी मिश्र थे। मेरे कार्य के अपने ऊपर ले लेने के बचन देने पर (ऊँचे पद वाले नीचे पदवाले की एवजीदारी बहुत कम करते हैं, किन्तु 'कभी नाव पर लढ़ी और कभी लढ़ी पर नाव' के न्याय से उन्होंने यह कार्य स्वीकार किया था) मुझे छुट्टी मिली।

मैं तो "अष्टकपाली दारिद्री जब चाले तब सिद्ध" का मानने वाला था, किन्तु महाराजा साहब सायत के उपासक थे। उन्होंने मेरे लिए भी सायत देखने का कष्ट किया। मेरे लिए चौथा चन्द्रमा था जो यात्रा के लिए अनिष्टकर समझा जाता है। लेकिन स्वतन्त्रता के आवेश में चौथे चन्द्रमा तो क्या, आठवें चन्द्रमा की बात नहीं मानता। मैंने समझा मेरे रोकने के लिए बहाना ढूँढ़ा गया है। मैं बालक तो न था, किन्तु अवस्था के हिसाब से महाराजा के सामने बालक ही था। मेरे बाल-हठ के सामने महाराजा का राज-हठ न चला क्योंकि मेरी धर्मपत्नीजी मायके जाने की प्रसन्नता में तिरिया-हठ का संयोग दे रही थीं।

परमेश्वर के घर तक पहुँचने के अनेकों मार्ग हैं किन्तु छतरपुर से अपने घर पहुँचने के दो ही रास्ते थे—एक सीधा आगरा होकर और दूसरा फेरफार का, कानपुर होकर। आगरे का रास्ता घर की मुर्गी की तरह (मैं मुर्गियाँ नहीं पालता हूँ)

आकर्षणहीन हो गया था। नवीनता के उपासक के लिए जब "सैर कर दुनियाँ की गाफिल जिन्दगानी फिर कहाँ ? जिन्दगानी गर रही तो नौजवानी फिर कहाँ ?" की उमंग हृदयोदधि में विलोड़ित होने लगी तो फिर नये मार्ग से जाने का लोभ संवरण करना कठिन था। उस मार्ग के एक-एक लाभ वृहदाकार धारण कर मेरे सामने आने लगे। कानपुर के लिए महोबा होकर जाना होगा, आल्हा-ऊदल की वीर-भूमि के दर्शन होंगे, इतिहास-प्रसिद्ध कीर्तिसागर देखने को मिलेगा। शायद यदि जाना चाहूँ तो राम-पद-अङ्कित चित्रकूट की पुण्य-भूमि में भव-ताप-शमन करने का सुअवसर मिल जायगा नहीं तो उधर के पावन समीर का एकाध झोंका तो लग ही जायगा। कानपुर में पाप-प्रक्षालिनी, कलिमल-विध्वंसिनी, पुण्यतोया भागीरथी के निर्मल सलिल में मज्जन और पान का अलभ्य लाभ मिलेगा। इससे भी बढ़ कर एक बात और थी वह यह कि कानपुर में एक सज्जन रहते थे जिन पर मेरे चार हजार रुपये की डिगरी थी, और इसके इजरा कराने की कानूनी मियाद तीनचौथाई मेरे सौजन्य और दयाभाव के वश और एक चौथाई आलस्य के कारण जाती रही किन्तु मेरी समझ में इसकी नैतिक मियाद तब भी बाकी थी। उनका पता-ठिकाना तो इससे अधिक नहीं मालूम था कि वे घी की दूकान करते हैं किन्तु चलते-फिरते उनके दर्शन होने की दूरस्थ सम्भावना अवश्य थी। इस विचार में कुछ अधिक तत्व ही नहीं था किन्तु अपने को धोखा देने तथा अपनी फिजूलखर्ची पर उपयोगिता का आवरण डालने के लिए यह ख्याल अच्छा था। उस मार्ग से जाने में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-रूपी चारों पदार्थ मेरे करतल होने की सम्भावना थी। फिर क्या था ? 'सब यानन तें श्रेष्ठ अति द्रुतगतिगामिनकार' का आवाहन हुआ। महोबा की सड़क कुछ खराब थी। वैसे तो उधर जाने के लिए ड्राइवर लोग

प्रायः आनाकानी किया करते थे, किन्तु मेरे साथ उनका अफसर मातहती का ही नहीं वरन् श्रद्धा-भक्ति का भी सम्बन्ध होने के कारण चक्रपाणि ड्राइवर ने भी मना नहीं किया। मालूम नहीं स्वयं विष्णु भगवान ही मुझे काल के गर्त में लिए जा रहे थे। जाने के लिए मेरा असबाब भी इतना सुडौल बँधा था कि मुझे उस पर गर्व होने लगा। मैं भी अपनी निगाहों में बड़ा जँचने लगा। 'वक्रतुण्ड महाकाय' का स्मरण कर मोटर पर सवार हुआ, और मारुत-तुल्य वेग से स्टेशन पहुँचा। स्टेशन पर सामान उतरा और उसके साथ हम लोग भी उतरे। मेरे चाकर राज भी मेरे साथ थे। उन्होंने भोजनादि की सुविधा करदी। रात को सवार हो कर नौ बजे कानपुर पहुँचे। यद्यपि कानपुर में कई जान पहचान के लोग थे तथापि उन पर परिवार का भार डालना मैंने नीति विरूद्ध समझा। सराय और होटल मुसलमानी और अंग्रेजी आधिपत्य के चिह्न होने के कारण प्राचीनता के धार्मिक संस्कार में पले हुए मनुष्य के लिए वर्ज्य-से थे। "येषा क्वापि गतिर्नास्ति" ऐसे अशरण लोगों को काशी की भांति शरण देने वाली धर्मशाला का आश्रय लिया गया। धर्मशाला के चुनाव में ब्रह्म-वाक्य और डॉक्टर-वाक्य की तरह ताँगेवाले का वाक्य प्रमाण माना गया।

आनन्दराम की धर्मशाला में मनचाहा स्थान मिल गया। उन कमरों में घर का-सा वातावरण था। दीवारों पर किसी रमणी के मांगल्य-सूचक चित्रण से अनुमान होता था कि यहाँ पर किसी का विवाह भी हुआ था। भोजन करके कल्पना-शक्ति कुछ बढ़ जाती है। हाल ही में हम लोगों ने एक कहानी पढ़ी थीं, जिसमें एक सज्जन की रेल में चोरी होगई थी। चोरी के अनु-सन्धान में उन्हें एक महीना स्टेशन पर ही ठहरना पड़ा, और उनकी लड़की का विवाह वहाँ के स्टेशन-मास्टर के लड़के से

हो गया था। कहानी या चोरी का भाग तो छोड़ दिया और सोचने लगा हमारी लड़की के लिए सुयोग्य वर मिल जाय तो उसका इसी धर्मशाला में विवाह कर सकते हैं, एक विवाह के लिए हमारे पास ट्रङ्क में पर्याप्त-सा धन था। हम भूल गये थे कि दीवार के भी कान हुआ करते हैं। धन का अस्तित्व बहुत सी बातों को भुला देता है, फिर यह तो जरासी बात थी। हम लोग शृङ्गारियों और व्यसनियों की भाँति शाम की प्रतीक्षा करने लगे। पाँच बजते ही दो ताँगे मँगाये गये। उनके लिए हम लोगों की संख्या कम थी। सोचा सुख-दुःख के साथी चाकर को भी सैर के लाभ से क्यों वञ्चित रखा जाय। आखिर ताँगे में जगह छोड़ने से कौन-सी बुद्धिमानी है! उस समय कोई मुझसे यह कहने वाला न था "अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचार-मूढ़-प्रतिमासि त्वं मे" नौकरी की जो उबाने वाली कार्य-प्रणाली से छुट्टी पाने की प्रसन्नता, स्वतन्त्रता के आवेश और सैर के शौक में उन साधारण बातों को भी भूल गया था, जिनका मैं सदा ध्यान रखता था। अपने पसीने की कमाई का घनी-भूत सार मेरे लिए कोहेनूर से भी नयनाभिराम और मूल्यवान् पैंतालीस तोले के स्वर्ण-खण्ड को मैं जी-जान से प्यारा तो नहीं, किन्तु किसी गोपनीय रहस्य की भाँति सुरक्षित रखता था। छतरपुर में उसके कारण घर सूना नहीं छोड़ता था। जिस बक्स में वह द्रव्य रखा जाता था उसका स्पर्श मेरे सर्वतोभद्र और सर्वतोगहि विश्वस्त चाकर (उसका नाम भरोसा था) के लिए भी वर्ज्य था। हाँ तो उस द्वादश-वर्षीय चाकरी-वारिधि की अमूल्य मणि की रक्षा के लिए नौकर भी न छोड़ा। मेरी धर्मपत्नी के मन में शंका की क्षीण रेखा आई थी, वह भी बातों के पारावार में जल की चल लहर और खल की प्रीति की भाँति स्थिर न रह सकी। मेरे कमरे से एक कमरा मिला हुआ था। उसके बीच के किवाड़ों में

(देवीजी पर अपनी कर्तव्यशीलता की धाक जमाने के लिए) ताला डाल दिया था। बाहर भी मजबूत ताले से कमरा सुरक्षित कर दिया। खजाने के प्रहरी की भाँति उसे दो बार खींच कर देख लिया था। इससे अधिक और सावधानी क्या ?

मेरे कमरे के दोनों ओर कुछ सज्जन, जो दुग्ध-फेन चन्द्र-ज्योत्स्ना और गांधीजी के चरित्र तथा यश से भी उज्ज्वल, चन्द्रमा के किरणजाल से भी हलके और झीने तथा गङ्गाजी के प्रातःसमीर प्रेरित लघु-लघु लहरियों से उर्मिल (चुन्नटदार) सफेद वाइल के कुर्ते पहने थे, ठहरे हुए थे। उनके गले में चमकती-दमकती स्वर्णशृङ्खलाएँ महेश की व्यालमाला की भाँति शोभा दे रही थीं। उनका अस्तित्व रक्षा की गारण्टी था। फिर मैं आशावादी और मानव जाति की श्रेष्ठता में विश्वास करने वाला था। मेरे मन में शङ्का क्यों स्थान पाती ?

हम लोग सैर को चले। क्या देखें और क्या न देखें के सम्बन्ध में भी ताँगे वालों की बात को आप्तवाक्य मान कर उनकी मायारूपिणी इच्छा के वशवर्ती हो यन्त्रारूढ़ की भाँति घूमने लगे। जिसे उन्होंने कह दिया "अवसि देखिए देखन जोगू" वही हमारे लिए परम दर्शनीय बन गया। उनकी रुचि लोक-रुचि की प्रतीक थी।

जब कभी मैं घण्टे के हिसाब से ताँगा किराए पर करता हूँ तभी मुझे Time is money (समय ही धन है) की सत्यता में विश्वास होता है, किन्तु उस समय जब रुपये की परवा न थी, तो उसके पर्याय समय की कब चिन्ता होती ? मैं तो अनन्त काल तक घूमता ही रहता। ताँगे वाले का तो एक-एक क्षण दुधार गाय बन रहा था। किन्तु मेरी छोटी बालिका ने रुदन की ठानी। वह समय का मूल्य जानती थी। उसके सोने का समय हो गया था। हम लोग धर्मशाला लौटे, असबाब पर एक उड़ती

हुई निगाह डाल कर थके-माँदे, कमरों के आगे सो रहे। बड़ी स्वस्थ निद्रा आई। प्रातःकाल गङ्गा स्नान के लिए प्रस्थान करने वाले ही थे, खयाल आया कि कुछ रुपया और ले लें, लौटते समय बाजार से कुछ सौदा-पता भी कर लेंगे। देवीजी एक साड़ी खरीदना चाहती थीं। बक्स देखा, ताला खुला था। सोचा गलती से खुला रह गया होगा। रुपयों की थैली की तरफ हाथ डाला, वह गायब! सुनहली जेवर के डब्बों की ओर हाथ बढ़ाया तो वह भी नदारद! सोने के ढेले की गन्ध भी न मिली। यदि कपूर का ढेला होता तो, कुछ दिनों तक कपड़ों में ही उसकी गन्ध रहती। देवीजी का चेहरा फक पड़ गया। 'लो! अब क्या करोगे, चोरी होगई!' आश्चर्यमुद्रा धारण कर मैंने भी चोरी शब्द की प्रतिध्वनि करदी। प्रकृतिस्थ होने पर देवीजी को धीरज बँधाते हुए कहा—'अभी पुलिस को लाता हूँ। ऐसी बात नहीं कि पता न लगे।'

मैं उन्हें वहीं छोड़ कर पूँछता-पाछता थाने की ओर लपका। जहाँ जिधर देखूँ वहीं सन्नाटा। 'दारोगाजी कहाँ हैं?' 'एक बम-केस की तफतीस में गये हैं।' 'छोटे दारोगाजी हैं?' 'कोर्ट-साहब के यहाँ गये हैं।' कोई मुहर्रिर, मुन्शी, ख्वाँदा, कान्सटेबिल रिपोर्ट लिखने वाला न मिला। मैं झुँझला कर कोतवाली की तरफ जाने ही वाला था कि छोटे दारोगाजी आ गये। उनसे मैंने अपना दुखड़ा रोया। उन्होंने सहृदयतापूर्वक सुनने के बजाय मेरे ऊपर अविश्वास प्रकट किया। 'इतना सोना कहाँ से आया?' रियासत की नौकरी का नाम लिया, तो भेद-भरी दृष्टि से कहने लगे 'तभी आपको कुछ परवा नहीं है! छोड़ कर चल दिये सैर करने!' मुझसा निरभिमान पुरुष भी ऐसी अपमान-जनक बातचीत न सुन सका। मैंने जरा कड़े स्वर से कहा—'यदि आपको रिपोर्ट लिखनी है तो लिखिए नहीं तो मैं जाता हूँ। मेरे

पास फिजूल वक्त नहीं है।' वे मेरे साथ धर्मशाला गये। दो-एक आदमियों के बयान लिये, एकाध जगह सामान इधर से उधर कराया, गालियों का कोष खाली किया, बस तफतीश की खाना पूरी हो गई। मैं डी० एस० पी० के यहाँ गया। छतरपुर की प्राइवेट सेक्रेटरीशिप के कार्ड की चोरी नहीं हुई थी। उसके बल पर डी० एस० पी० के बँगले में तुरन्त प्रवेश मिल गया। उसने बातचीत तो सहृदयता से सुनी, लेकिन किसी विशेष अफ़सर को तैनात करने से इन्कार कर दिया। राजनीतिक जुर्मों (Political Crimes) की छान-बीन में अफसर अधिक व्यस्त थे। बँगले से निकलते ही चपरासी ने इनाम के लिए सलाम किया। बड़ा गुस्सा आया, लेकिन करता भी क्या ? हारे जुआरी की भाँति ताँगे पर आ बैठा।

दूसरे दिन नौ बजे से तीन बजे तक इन्तजार करने के बाद कोतवाल साहब के दर्शन हुए। बड़ी दीनता धारण करने पर उन्होंने एक नवयुवक इन्सपेक्टर को मेरे साथ भेजा। उसकी सलाह से मेरे पड़ौस के सफेद-पोश लोगों की कलकत्ते के पते पर तलाशी के लिए वहाँ के सुपरिटेंन्डेन्ट महोदय को तार दिया गया, वहाँ से जवाब आया कि कलकत्ते में वह गली ही नहीं है। मैं अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

छतरपुर से माल खरीदने आये हुए पुरोहितजी ने परिस्थिति का अध्ययन कर मुझे बतलाया कि चोरी किस तरह हुई होगी। सींक की ओट पहाड़ की बात निकली। मेरे कमरे से मिले हुए कमरे के बीच में जो किवाड़ थे उनमें देशी तरह की साँकल थी। उसके कुण्डे के छोर पीछे की ओर मुड़े थे, वे नरम-लविया के थे, सहज ही में पीछे से सीधे किये जा सकते थे। कुण्डों के पीछे ठोंक कर किवाड़ खोलने में विशेष बुद्धिमानी की जरूरत न थी उस काम को मैं भी कर सकता था। मेरा अज्ञान-तिमरान्ध दूर

हो गया। बेचारा ताला क्या करता? चोरी भी एक कला* है।

दो दिन की छान-बीन में पता चला कि उस रोज ठगों का एक दल कानपुर आया था। उसने जुग्गीलाल, कमला पति के यहाँ, कलकत्ते की दूकान से, यह तार दिलवाया था कि उस गोल के व्यक्ति विशेष को पाँच हजार दे दिये जायँ। उनका मुनीम उस झांसे में नहीं आया। वार खाली गया। वे तो बच गये, मैं गरीब मारा गया। ५०००) नहीं, तो पच्चीस सौ से कुछ ज्यादा चोर के हाथ लगे। मृच्छकटिक के नायक चारुदत्त की भांति मैंने भी संतोष कर लिया कि चोर हमारे घर से निराश नहीं गया। उसकी विद्या सफल हुई। वह जरूर सायत देखकर चला होगा।

तीन रोज की इक्के-ताँगे की दौड़-धूप और तारबर्की में मेरी जेब का भार आधा रह गया, और जब जलेसर जाने मात्र का किराया मेरे पास बचा, तो दो दिन का स्थगित गङ्गा-स्नान का कार्य पूरा कर मैंने जलेसर का टिकट कटाया। जलेसर से मेरठ आया वहाँ मेरी देवीजी के भाई साहब ने हम लोगों को एक कमरा दिया, उसके लिए एक छ लीवर का: मजबूत ताला भी देने लगे। ताला देख कर मुझे भाग्य की विडम्बना पर हँसी आई। जब कुछ माल ही न रहा, तब ताले की क्या जरूरत?

मालूम नहीं मेरी चोरी क्यों हुई? पूर्व जन्म के पापों के उदय होने से या इस जन्म की गफलत के कारण? जो कुछ भी हो, कनक से सौगुनी कनक की मादकता का नशा हिरन हो गया! छुट्टी लेने और चोरी होने का यही फल हुआ कि मैं अपना काम-काज रुचि और तन्मयता के साथ करने लगा।

---

* इसी कला से चमत्कृत होकर मैंने 'चोरी एक कला' शीर्षक लेख भी लिखा है। वह पुस्तक के अन्त में दिया जायगा।

पट-परिवर्तन

(छतरपुर से विदा और आगरे में घर की तलाश)

यद्यपि गुरुजनों ने चाकरी को निकृष्ट कहा है तथापि स्वर्गीय महाराज की कृपा और उनके सौजन्य से नौकरी का जुआ बहुत मुलायम हो गया था। आरम्भ में तो मैंने रस्सा तुड़ा कर भागने की कई बार सोची थी और कभी-कभी कवि न होते हुए भी स्वतन्त्रता के स्वर्ग की कल्पना कर महात्मा तुलसीदासजी के 'कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो' के अनुकरण में कुछ ऐसी पंक्तियाँ अपने गर्धव-स्वर में गाया करता था—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
भूलहुते नहिं, पुनि, मुनि-दुर्लभ चाकर वृत्ति गहौंगो॥
आपुहि सासित रहि, पर-सासन में नहिं चित्त धरौंगो।
ह्वै स्वाधीन, निरज निरधनता में सुख-मोद लहौंगो॥
आवागमन छाँड़ि महलन को कुटिया माहिं बसौंगो।
प्रातहि उठि-उठि नित प्राची में नभ-लाली निरखौंगो॥
रूखी-सूखी खाइ सबन सौं प्रेम-नेम निबहौंगो।
नाथ पघा बिनु कालिन्दी कूलन माँहि सुखी बिचरौंगो॥

समय बीतने पर मैं नौकरी की लीक में पड़ गया और कैदी की भाँति अपने बन्धनों से प्रेम करने लगा। मैं अपनी सन्तोषवृत्ति के कारण छतरपुर की नौकरी में बिना मरे ही स्वर्ग देखने लगा था। यदि कोई मुझ से कुशल पूँछता तो गर्व से कह देता कुशल क्या पूंछते हैं कुशल से भी ज्यादह है, लेकिन मैं भूल गया था 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। मैं वैसे तो पुरुषार्थवाद में विश्वास करता हूँ किन्तु 'यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति' तब मैं भाग्यवाद का अनुयायी हो जाता हूँ। उसमें कुछ संतोष मिलता है।

महाराज साहब के दुखद देहावसान होने पर मुझे नौकरी की आशङ्का अवश्य हुई किन्तु भक्त न होते हुए भी भगवान् रामचन्द्र की उस मुखाम्बुजश्री का 'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले बनवासदुःखतः' ध्यान कर मेरा चित्त विचलित नहीं हुआ। पोलिटीकेल एजेन्ट साहब तथा दीवान साहब की प्रेरणा से प्रसन्नता पूर्वक कमी (Retrenchment) का कुठार चलाने में प्रवृत्त हो गया। मैं समझता था कि इस सहयोग के कारण मेरी गर्दन बची रहेगी लेकिन बकरे की माँ कबतक खैर मनाती? स्वयं मौत के फरिश्ते को भी मौत का सामना करना पड़ता है। यद्यपि मैं प्राइवेट सेकरेटरी के साथ रियासत में और कुछ भी था फिर भी मेरा प्रधान-पद प्राइवेट सेकरेटरी का ही था। महाराज के देहावसान के साथ उस पद का भी अन्त हो गया था। मुझे पोलिटिकैल एजेन्ट का शिष्टतापूर्ण पत्र मिला। मुझे नयी आयोजना में स्थान न दे सकने का खेद प्रकट करते हुए उदार पेन्शन दिलाने का बचन दिया गया। पेन्शन देने में मेरे साथ उदारता हुई लेकिन नौकरी बनी रहती तो और भी अच्छा होता। उस पत्र को देखते ही मेरे शिष्य और मित्र पंडित रामनारायण बोले 'लिखत सुधाकर लिखगा राहू' किन्तु मैंने उनको डाटते हुए कहा 'हुइ है वही जु राम रचि

राखा, को करि तर्क बढ़ावहि शाखा'। मैं उस पत्र को 'विधि का लिखा को मेटन हारा' कह कर अपने जाने की तुरन्त तैयारी करने लगा। किन्तु धीर होते हुए भी मन में एक बार यह भावना आई थी 'या खुदा यह आफत का प्याला मेरे सामने से टल जाय'। प्रभू ईसामसीह तक ने मौत के प्याले के टलने की प्रार्थना की थी, फिर अस्मदादिकानां का गणना? लेकिन नौकरी छूटना मौत न थो, और फिर पेन्शन भी तो थी। मैंने उस प्याले को मीरा की भांति भगवान् का चरणामृत समझ पी लिया।

हर हाइनैस राजामाताजी ने मुझे अपने निजी कामकाज की देखभाल के लिए कुछ दिनों रोकने की इच्छा प्रकट की किन्तु मैंने उनकी कृपा का लाभ उठाना उचित न समझा क्योंकि 'स्थान भ्रष्टाः न शोभन्ते केशाः दन्ताः नखाः नराः'। रियासत के अधिकारियों ने मेरे साथ इतनो कृपा की कि जब तक मैं असबाब के प्रबन्ध करने में लगा रहा तब तक मुझे यह अनुभव नहीं होने दिया कि मैं किसी प्रकार से स्थानच्युत हूँ। सवारी नौकर सब वैसे ही लगे रहे, आदर-सत्कार भी वैसा ही था लेकिन यह सब शोभा मुर्दे के कफन की सी ही शोभा थी, शव को घर से बाहर ही जाना पड़ता है। मुर्दे से मेरी दशा कुछ खराब थी। उसको आराम से लेटा रहना पड़ता है। मुझे उठकर खुद जाना था—आलस्य भक्त होते भी मैंने अपने को उठाने में काफी जल्दी की।

मनुष्य नौकरी छूटने पर बेफिक्र नहीं हो जाता, उसे बहुत-सी नई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। सबको थोड़ी-बहुत इनाम-बकसीस भी देना आवश्यक-सा हो गया था। शायद उससे ज्यादा, जो नौकरो लगने पर खर्च करना पड़ा हो। नौकरी लगने पर मैंने किसी को कुछ इनाम नहीं दिया था। सब से बड़ी समस्या असबाब और जानवरों की थी। असबाब इस तरह से बाहर निकला मानों कुरकी हो रही हो। कुछ सामान

बाँटा भी। वह दृश्य ऐसा था मानों घर में आग लगी हो और लोग सामान ढोकर ले जा रहे हों। खैर, सामान स्टेशन तक ढोने के लिए रियासत से पूरी बार-बरदारी मिली। जैसे-तैसे स्टेशन पहुँचा; यद्यपि धनवान तो नहीं हूँ, तथापि मैं बड़े आदमियों का सा आलस्य अवश्य रखता था। मैं यह चाहता था कि कोई मुझे और मेरे सामान पहुँचाने का ठेका ले ले; किन्तु ठेकेदार लोग सेवा-समिति के सदस्य नहीं होते। सामान की समस्या ने मेरी अन्य समस्याओं को भुला दिया। स्टेशन-मास्टर ने मेरा अंतिम संस्कार बहुत शीघ्र कर दिया; लेकिन यह समस्या थी कि सामान लेजाकर उसे रक्खूँगा कहाँ ? मैं चाहता था कि जिस प्रकार महारास की रात्रि में चन्द्रमा की गति स्थगित हो गई थी, उसी प्रकार रेल की भी गति स्थगित हो जाय और जब मैं अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच कर निवास-स्थान तलाश लूँ, तब ही रेल पहुँचे। मेरे एक मित्र ने पहले से ही यह आशंका की थी। उन्होंने मुझे उपदेश भी दिया था, कि पेश्तर मकान तलाश कर लो, तब समान और घर के लोगों को ले जाना किन्तु दो बार आने-जाने का कष्ट कौन उठाता ? यदि जान-जोखों न हो तो मुझ में थोड़ी साहस-वृत्ति (Adventurous spirit) भी है और भक्त न होते हुए भी ईश्वर पर विश्वास है। सोच लिया राम बेड़ा पार करेंगे।

मेरा घर का भी एक मकान है। उसके निर्माण के लिए न मेरा प्रस्ताव था और न कोई प्रयत्न और पुरुषार्थ। मैं तो वर्तमान का ही ध्यान रखता हूँ। न इस लोक के भविष्य का न परलोक के। अब तो चैन से गुजरे तो मैं आकबत का नाम भी न लूँ। पूर्वजों के स्थान से मुझे प्रेम नहीं। "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति", किन्तु मैंने यह नहीं सोचा कि आज कल खारी जल भी मुश्किल से मिलता है। खैर, जैसा कि मैं पहले

ही कह चुका हूँ। मैंने मित्र का कहना नहीं माना। मूर्ख और बड़े आदमी दोनों ही 'परोक्तं न मन्यन्ते' वाले सिद्धान्त के अनुयायी होते हैं।

मैं रेल में सवार हो गया। एक चाकर को जानवरों की सेवा के लिए छोड़ा और एक अपनी सेवा के लिए; क्योंकि हम सब चाकराधीन हैं और फिर जानवर भी हैं। उनका समानधर्मी होने के कारण उनको मैं छतरपुर न छोड़ सका। न वे गुण में अच्छे थे और न रूप में,फिर भी अपने होने के कारण उनसे मोह था। उनकी कीमत से भी अधिक उनका भाड़ा देना पड़ा। रेल यथा समय आ गई। स्टेशन पर सामान उतारा, कुछ मेरे डब्बे में था और कुछ गार्ड के।

मकान तो निश्चित था नहीं जो एकदम से चला जाता। इतनी ही गनीमत थी कि रात की ट्रेन से नहीं उतरा। बीबी-बच्चों को स्टेशन पर ही छोड़ा। मैं और मेरे चिरंजीव इष्ट मित्रों की सहायता से मकान की तलाश में निकले। यद्यपि हम दोनों भिन्न-भिन्न ओर गये तथापि एक ही स्थान में मिल गये। वे ही इने-गिने मकान थे, जिनको सब लोग बतलाते थे।

मन में रईसों की बू समाई हुई थी। स्टेशन के पास के मकानों को तो इसलिए नहीं पसंद किया कि रेलगाड़ी के धुएं से स्वास्थ्य खराब होगा और आवाज से निद्रा में बाधा पड़ेगी। ऋषि मुनि नहीं बनना चाहता था; गीताजी में कहा है:—"या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।" शहर के मकानों में तो स्वास्थ्य और निद्रा के राम ही मालिक थे, दुमंजिला, तिमंजिला अवश्य थे, पक्के भी थे, नलदेव उनमें निरन्तर वास कर उनको शीलवान (सीलवाले) बना रहे थे। मालिक मकान उनको कोई संदूक की उपमा देता, कोई कहता कि इसमें चोर की गति नहीं। मैं उनसे कह देता—महाशय, इसमें सूर्य

तक की गति नहीं, तो चोर की कहाँ ? चोर बेचारे तो बड़े उपकारी होते हैं। वे अपनी जान पर खेल कर हमारे मकान को हवादार बना देते हैं। कोई कहते कि इस मकानमें बन्दर नहीं आ सकते हैं। मैंने उत्तर दिया—महाशय मैं रावण का वंशधर नहीं जो उनसे डरूँ। मैं तो पवन का भक्त हूँ। यदि उस भक्ति के नाते पवन सुत के अनुयायी मेरे घर पर कृपा करें, तो मुझे खेद नहीं। चोर का भी भय नहीं क्योंकि एक बार मैं स्वतन्त्र भ्रमण और वायु सेवन की न्यौछावर सत्ताइस सौ रु० अर्पण कर चुका हूँ। जिस प्रकार प्लेग या हैजा होने के पश्चात मनुष्य उन रोगों से निर्भय हो जाता है, मैं अपने को चोर-प्रूफ समझने लगा था। इससे चोर-प्रूफ मकान की आवश्यकता न थी।

मकान तलाशते-तलाशते शाम हो गई, आखिर घर वालों का ख्याल था। मेरे कुछ इष्टमित्रों ने, जो मेरे साथ थे अपने-अपने घर ले जाने का आग्रह किया। मैंने सोचा कि तलाश कोलंबस (Columbus) की सी यात्रा तो है नहीं। आज न सही, कल तो अवश्य सफलता देवी के दर्शन होंगे। अपना भारी असबाव एक मित्र के यहाँ भेज, हम लोग चंद्र-महल होटल में ठहर गये। अभी नौकरी की साहिबी का नशा नहीं उतरा था। सावन के अंधे को हरा-हरा ही सूझता है। दूसरे रोज फिर उसी धुन में होटल से निकले। फिर वही किस्सा! वैसे ही मकान और वैसी ही बातें।

शहर के बाहर मकान तलाशने की ठानी, तो वहाँ किसी कोठी का किराया अधिक था और जिसका अधिक नहीं था, वह शहर से दूर निर्जन स्थान में थी कि जहाँ तक पहुँचने में तांगे का किराया देते-देते दिवाला निकल जाता। मैं तो स्वास्थ्य-सुधार के विचार से और कुछ घटी हुई आय के कारण पैदल ही आता जाता। इससे चमड़ी तो नहीं पर दमड़ी अवश्य बच जाती और समय भी कट जाता किन्तु, मेरे चाकर देव क्यों पैदल आते-

जाते ? न तो उनका स्वास्थ्य ही खराब था और न उनकी पैनशन ही होगई थी। (मेरी हुई थी, उनकी नहीं) खैर, बाहर की कोठी का भी ठीक न पड़ा। किराये और खर्च का सवाल था 'चाहिय अमी जुरे नहि छाछी' दूसरा दिन यों ही गया। जानवरों के डब्बे आजाने की सूचना मिली। अब मकान की समस्या और भी तीव्र होगई। मैं तो होटल में ही रह जाता; किन्तु जानवर तो होटल में न रहते! बाहर की कोठी में जानवरों का सुभीता था, तो संकुचित आय वाले आदमी का सुभीता न था और शहर में किराये का थोड़ा-बहुत सुभीता था, तो जानवरों का नहीं।

होटल में ठहरने का मेरा गर्व चूर्ण हो गया था। अपने मित्र के यहाँ घरवालों को पहुँचा दिया। मकान की खोज कोलंबस की यात्रा से भी बढ़ी-चढ़ी ज्ञात होने लगी। मित्र ने जानवरों के ठहरने का एक पड़ोसी के यहाँ बन्दोबस्त कर दिया। स्टेशन पर जानवरों का स्वागत करने गया। वहाँ जानवरों की चुङ्गी का सवाल उठा। मुंशी ने कहा—'फी जानवर आठ आना लगेगा।' मैंने तर्कशास्त्र में पढ़ा था कि All men are animals (सब मनुष्य जानवर हैं।) मुझे शंका हुई क्या हम लोगों की चुङ्गी लेना स्टेशन-मास्टर भूल गये? मैंने कहा—अच्छा शरहनामा दिखाइए।' शरहनामे में यह पढ़कर संतोष हुआ कि आठ आना फी पूँछ महसूल लगेगा। ईश्वर को धन्यवाद दिया कि हमको पुच्छ-विषाण-हीन बनाया। रास्ते में एक कोठी देखी, उसका ऊपर का खण्ड खाली था। मकान मालिक से पूछा कि इसमें गाय-भैंस का सुभीता है या नहीं? उसने तुरन्त उत्तर दिया आपक गाय-भैंस क्या कुर्सी-मेज पर बैठती हैं जो ऊपर रहेंगी। स्वाथ औचित्य को भूल जाता है।

जानवरों को घर पहुँचा कर एक और कोठो देखी, उसमें किसी राज्य के ex-minister का साइनबोर्ड लगा हुआ था। मैं भ

एक राज्य का निकाला हुआ था। सुग्रीव और रामचंद्र की सी मैत्री का हिसाब समझ कर (हम दोनों ही हृतराजदारा तो नहीं, परन्तु हृतराज अवश्य थे) बादरायण सम्बन्ध से उनके यहाँ गया कि शायद उसमें स्थान मिल जाय। उन्होंने कहा—हम मकान छोड़ रहे हैं; पूरे मकान के लेने की मेरी हिम्मत कहाँ थी? मैंने इस मकान के लिए मन में बड़ी-बड़ी कल्पना कर रक्खी थी। खूब मिलाई जोड़ी, एक अंधा, एक कोढ़ी। एक ओर साइन बोर्ड लगता ex-minister और एक ओर लगता ex-secretary, पूरा बानिक बन जाता। यह संगठन ईश्वर को मंजूर न था। होटल में किराये का बोझ था, तो मित्र के घर एहसान का बोझ। साँप छछूँदर कीसी गति होगई। दोनों में से एक भी बोझ हल्का न था। मैं एकान्त में बैठकर ईश्वर से प्रार्थना करने लगा—"अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल"।

ईश्वर-प्रार्थना के अतिरिक्त नाना प्रकार के मंसूबे बांधा करता था। मैं सोचता था कि किसी अखबार में विज्ञापन निकाल दूँ कि जो मुझे खातिरख्वाह मकान तलाश दे, उसे मैं १०००८) इनाम दूँगा। विज्ञापन का ही खर्च था। १००००) रु० के नाम उतने पैसे भी न थे; लेकिन यह संतोष था कि मकान के खातिरख्वाह होने का निश्चय करना तो मेरे हाथ में है, इस लोभ में बेकार लोग मेरे लिए सगर के पुत्रों की भांति शहर भर को खोज डालेंगे; लेकिन बिना कुछ दिये, किसी के परिश्रम से लाभ उठाना मेरे सिद्धान्तों के विरुद्ध था। देने को मेरे पास घर के किवाड़ भी न थे। हाँ, एक चीज अवश्य थी, जो देने से घटती नहीं। एक स्थानीय विद्यालय में अनाहारी रूप से विद्यादान करने लगा। कुछ विद्यार्थियों ने गुरुदक्षिणा के रूप में मेरी खोज अपने हाथ में ली। विद्यार्थियों ने बानर-राज सुग्रीव की अपेक्षा अधिक मित्रता दिखाई। मुझे उनको धमकी देने की

या भय दिखाने की आवश्यकता न पड़ी। उन्होंने खोज कर ही स्टेशन के पास का मकान बताया। मैंने उस मकान को भीतर से न देखा था। उसके बारे में मेरा निर्णय युक्ति-आश्रित (A priori) था, अनुभवाश्रित नहीं। उन्होंने मुझे निरीक्षण का परामर्श दिया। सच्ची बात को बालक से भी ग्रहण करनी चाहिए। मैंने जाकर मकान देखा वह नया था। कारीगरों ने उसे बना कर हाथ भी न धोये होंगे। उसमें नल देव का अभाव था; लेकिन भगीरथ रूप मेरे चर देवों ने मुझे आश्वासन दिलाया कि उनके रहते मुझको जल का कष्ट न होगा। मकान की स्वच्छता के आगे और सब कठिनाई विलीन हो गई। केवल मेरे अभिमान को आघात पहुँच रहा था, कि 'खेंच मोची के मोची' वाली लोकोक्ति चरितार्थ हो रही है। पहले यदि उस मकान को देख लेता तो इतनी परेशानी से बच जाता। शायद पहले रोज देखने पर पसन्द भी न आता। धक्के खाकर ही मनुष्य की अक्ल ठिकाने आती है। मुझे धक्के लगे सो लगे, संसार के ज्ञान-भण्डार में वृद्धि हो गई। ईश्वर की खोज के लिए एक उपमा और बढ़ गई। ईश्वर अपने पास होता हुआ भी लोग उसको दूर-दूर खोजा करते हैं। अस्तु मेरी खोज का अन्त निकट दिखाई पड़ने लगा। किन्तु अभी थोड़ी ग्रह-दशा शेष थी।

मकान की खोज हो गई। पर मालिक मकान का पता न था। उनकी खोज का भार अपने सिर पर ले लिया; आखिर वे मिले और मेरे भाई के मित्र निकले। उन्होंने कहा कि आपने फौरन ही क्यों न खबर की? मैंने कहा—न आप सर्वज्ञ थे न मैं ही। सुदामा को भी पूछते-पूछते श्रीकृष्ण के दरवाजे तक जाना पड़ा था। उनसे किराये की अधिक बातचीत न करके उनका बताया हुआ किराया, आज्ञा गुरूणामिव शिरोधार्य किया। मकान की चाबी ले, इतना

प्रसन्न हुआ मानों स्वर्ग की चाबी मिल गई हो। मैंने चाबी श्रीमती जी को अर्पण की। जिस प्रकार धनुष तोड़ने से श्रीरामचंद्र जी को जानकी जी के साथ जय, कीर्ति और न जाने क्या मिला उसी प्रकार उस चाबी के साथ मित्र के अहसान से मुक्ति, कर्मण्यता का सार्टीफिकेट, पैरों के लिए विश्राम, लामकां होने के गौरव से छुटकारा और न जाने क्या-क्या मिला। अब मैं उस मकान में सुख से रहता हूँ। रेल के आवागमन से घड़ी के अभाव की पूर्ति हो गई। सब यात्राएँ सुलभ हो गईं। घर से बाहर पदार्पण करते ही प्लेटफार्म मिलता है, तो तांगेवालों से किराया ठहराने की यम-यातना से बच जाता हूँ। दीनदयाल के कान में भनक पड़ गई, किन्तु देर में। खैर, देर आयद दुरुस्त आयद। अब ईश्वर से यही प्रार्थना है कि मुझे चाहे सहस्र बार जन्म लेना पड़े पर मकान की खोज से बचा रहूँ।*

---

* यह प्रार्थना स्वीकार सी हो गई है। रेलवे प्लेट-फार्म का सान्निध्य तो बहुत दिन नहीं रहा। श्री महेन्द्रजी की कृपा से जैन बोर्डिङ्ग हाऊस की वार्डनशिप मिलगई। उसके पश्चात् अपना मकान बना लिया। उसकी करुण कथा आगे पढ़िए।

मेरा मकान

(मेरी मूर्खता की साकार मूर्ति)

मुग़ल-सम्राट् शाहजहाँ जब क़ैद में थे, तब उनसे पूछा गया कि आप क्या काम करना चाहेंगे ? उन्होंने उत्तर दिया—लड़कों को पढ़ाना। इसके प्रत्युत्तर में उनके सआदतमंद पुत्र शाहंशाह औरंगज़ेब ने फ़रमाया कि अब्बाजान, आपके दिमाग़ से बादशाहत की बू अभी नहीं गई है।

छतरपुर-राज्य से लौटने पर मैंने भी जैन-बोर्डिङ्ग-हाउस, आगरे की अनाहारी वा अनारी (Honorary) आश्रमाध्यक्षता (वार्डेन-शिप) स्वीकार की। लोग कहेंगे, मेरे दिमाग़ से भी राज्य की बू नहीं गई थी, ठीक है। प्रोफ़ेसरी में तो निजी संबंध का प्रायः अभाव होने के कारण अधिकार की मात्रा कम रहती है, वार्डनशिप में घनिष्ठतर सम्बन्ध होने के कारण वह कुछ अधिक हो जाती है। किन्तु मेरे मत में शासन का अभाव ही शासन की श्रेष्ठता थी (That Government is best which governs least)। दुर्भाग्य-वश मेरे सिद्धांतों के लिए जैन-बोर्डिङ्ग-हाउस का वातावरण उपयुक्त न था। विद्यार्थियों में प्रीति का भय बहुत कम था और भय की प्रीति भी अधिक न थी। अधिकारी-

वर्ग भी 'भय बिन होइ न प्रीति' के पूर्ण अनुयायी और दण्ड-विधान के घोर समर्थक थे। वे मेरी अपेक्षा कुछ आदर्शवादी भी अधिक थे, बीसवीं शताब्दी की अँगरेजी सभ्यता में पालित-पोषित बाबू लोगों से निशाचरी वृत्ति (रात में चरने या खाने की वृति) छुड़ाना चाहते थे। मैं चाहता था कि राम-राज्य की भाँति 'दण्ड जतिन कर' ही रह जाय, अर्थात् दण्ड सज़ा के रूप से उड़ जाय, और दंड (डंडा) केवल संन्यासियों के हाथ में ही रहे, किन्तु राम-राज्य कलियुग में कहाँ ?

मैं यह अवश्य कहूँगा कि सब विद्यार्थी दंड के अधिकारी न थे। दंड के अधिकारी लोगों ने भी मेरे साथ कभी उद्दंडता का व्यवहार नहीं किया। मेरे प्रति उनका सौजन्य-भाव ही रहा। उनमें इतनी शिक्षा न थी कि वे यह समझें कि बन्धन में ही मुक्ति है, आत्मसंयम में ही आत्मसम्मान है। अधिकारियों का भी मेरे प्रति सौजन्य ही रहा, इसीलिए मतभेद होते हुए भी, कोई वैमनस्य नहीं हुआ।

मैं यह समझता था कि स्वर्ग से भी पुण्य क्षीण होने पर लोग मर्त्यलोक में भेज दिए जाते हैं, फिर राज्य और अधिकार के लिए भाग्य का बहुत दिन आश्रय लेना बुद्धिमानी का काम नहीं था। सम्राट् एडवर्ड अष्टम को ऐसे राज्य को छोड़ने में, जिस पर कभी सूर्यास्त नहीं होता, एक मुहूर्त की भी देर न हुई, तो मुझे अपने छोटे-से राज्य छोड़ने में देर लगाना स्वार्थपरायणता की पराकाष्ठा प्रतीत हुई। मैंने त्याग-पत्र भेज दिया। त्याग-पत्र सखेद स्वीकार भी हो गया। इतने में ग्रीष्मावकाश आगया, मुझे पेन्शन-स्वरूप अधिकारियों के सौजन्य-वश बोर्डिङ्गहाउस के क्वार्टरों में दो मास और ठहरने की बिना माँगे आज्ञा मिल गई।

आज्ञा तो मिली, किन्तु मुझे नीति-वाक्य याद आया कि 'स्थान-भ्रष्टा न शोभन्ते केशाः दन्ताः नखाः नराः।' इसलिए मैंने

भविष्य के बारे में विचार किया। किराए के मकान मिल सकते थे। थोड़े किराए के मकान पसन्द नहीं आते और अच्छे मकानों का किराया इतना अधिक था कि इसके प्रतिमास अदा करने में मेरे पैर सौर से बाहर निकल जाते। भूखों नहीं तो जाड़ों अवश्य मर जाता।

जलेसर में मेरा पैतृक घर है, किन्तु वहाँ न तो बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध और न मेरे स्वाध्याय का सुभीता था. वहाँ चुङ्गी की चर्चा और निरीह जर्जरितकाय किसानों को आतङ्क-भार से दबाने और मरों को मारने की शेखी बघारने वाले शाह-मदारों, सत्ताधिकारी जमींदारों तथा अनारी मजिस्ट्रेटों की गर्वोक्तियाँ सुनने के सिवा क्या रक्खा था? यद्यपि मैं क्षीण तेज था तथापि मुझमें दूसरों का प्रताप न सहने वाला सहज स्वभाव बना हुआ था, फिर जलेसर में मेरी कहाँ गुजर?

आगरा में विद्यार्थी जीवन व्यतीत करने के कारण उससे विशेष मोह हो गया है। उसको छोड़ने की इच्छा नहीं होती। लोमश ऋषि को आदर्श मान कर मकान बनाने के, सिद्धान्त-रूप से, मैं खिलाफ हूँ। लोमश ऋषि की इतनी आयु है कि जब ब्रह्मा का एक वर्ष होता है, तब वे अपने शरीर का एक बाल नोच कर फेंकते हैं और इस प्रकार जब उनके सारे शरीर के बाल निकल जायँगे, तब उनकी मृत्यु होगी। वे भी अनित्यता के भय से मकान नहीं बनाते, और अपनी झोंपड़ी को आज तक सिर पर लिये फिरते हैं। मेरे आर्थिक सलाहकार भी मकान बनाने में सहमत न थे। किन्तु चिड़ियाँ अपने नीड़ में विश्राम लेती हैं, साँप के भी बांबी होती है, भेड़िया अपनी माँद में रहता है, चूहे भी अपने लिए बिल खोद लेते हैं तो मेरे शरीर को आतप और मेघ से सुरक्षित रखने के लिए एक टूटा-फूटा मकान भी न हो,

आत्मभाव जाग उठा, 'धिग् पौरुषं, धिगैश्वर्यम्'। मैं सोचने लगा—दीन सुदामा के पास भी शायद एक झोंपड़ी थी। यदि किराए की झोंपड़ी होती, तो कृष्ण भगवान् उसके स्थान में सोने के महल न बनवाते क्योंकि मालिक मकान उन्हें अपने बतलाने लगता। किराए के मकान के सम्बन्ध में कॉलरिज आदि अँगरेजी के सुकवियों की करुण कथाएँ पढ़ी थीं। सुना जाता है, एक बार वे बड़ी सुन्दर कविता लिख रहे थे, जिसे उन्होंने स्वप्न में रचा था। वह संसार की सर्वोत्तम कविताओं में से एक होती, किन्तु वे कुछ ही पंक्तियाँ लिख पाये थे कि मकान वाले ने आकर घोर तकाजा किया और कवि महोदय की जिह्वाग्र सरस्वती हंसारूढ़ हो ब्रह्मलोक चली गई। संसार एक सुन्दर कविता से वञ्चित रह गया। यह कथा पढ़ने के पश्चात् मुझे किराए के मकानों से चिढ़-सी हो गई है। मुफ्त के मकान अब भाग्य में कहाँ? जेल जाने की शरीर में सामर्थ्य नहीं। अस बस, अपना ही मकान बनाने का कठोर सङ्कल्प किया। अच्छा है, मकान बनेगा, तो कुछ शगल ही मिल जायगा। पढ़ने से ऊबे हुए मन को कुछ व्यसन न होना मुझे अखरता भी था। इस सम्बन्ध में मैंने एक सवैया भी लिखा है—

ताम छुए नहिं हाथन सों, सतरंजहु में नहिं बुद्धि लगाई।
टेनिस-गेम सुहाय नहीं, फुटबॉलहु पै नहिं लात जमाई॥
केरम-मर्म न जान्यहु, पेखत, क्रीकेट-कंदुक देत दुहाई।
जीवन को सुख पायु न रंचक लेखन में निज बैस गमाई॥

जब मैं किसी बात का सङ्कल्प कर लेता हूँ, तो उसकी पूर्ति के लिए अन्धप्राय हो जाता हूँ। आवेश-वश आगा-पीछा नहीं देखता। कल्पना के कल्पतरु के नीचे बैठ नये मकान के स्वर्णमय स्वप्न देखने लगा। मैं सोचता था, थोड़ा-सा ही द्रव्य लगा कर एक छोटा-सा मकान बना कर उन्मुक्त वातावरण में रहूँगा।

मकान के लिए जमीन तलाशने लगा। जहाँ मैं जमीन चाहता था, वहाँ की एक-एक इञ्च जमीन बिक चुकी थी। बिकी हुई जमीन में से बहुत अच्छी जमीन कुछ अधिक दामों में मिलती थी। किन्तु जिस प्रकार सिंह दूसरे का मारा हुआ शिकार नहीं खाता, उसी प्रकार मैं दूसरे की खरीदी हुई जमीन में से एक भाग खरीदना पसन्द नहीं करता था। उसके गुण भी मुझे अवगुण प्रतीत होने लगे। एक गढ़ा अछूता था। प्रेमान्ध की भाँति उसके प्रत्यक्ष दोष भी मैं न देख सका। जमींदार महोदय ने मेरे सिर पर ऐसी उल्लू की लकड़ी फेरी कि मैं छः महीने के लिए नहीं, तो छः दिन के लिए अवश्य अन्धा हो गया। मैंने उस जमीन के कुछ दोष बतलाये किन्तु उन्होंने कहा—बस, दो-ढाईसौ रुपए में गढ़ा भर जायगा, और जमीन एक रुपए गज से दो रुपए गज की हो जायगी। मालूम नहीं, पंडित वसन्तलालजी ने आदमी से गधा बनाने की विद्या, बिना बङ्गाल गये ही, कहाँ से सीख ली थी। कहने के ढङ्ग में जादू होता है। सत्तू के मुकाबले धान अच्छे बतलाये जा सकते हैं—"स···त्तू ३ मल···म···त्तू ३ जब घो···रे ३, तब खा···ये ३, तब चले; धान बिचारे भले, कूटे-खाये चले।"

दो सौ रुपए में गढ़ा भर जाने की बात में आ गया, और बात की बात में बयनामा करा लिया। बयनामा के समय कचहरी का सच्चा अर्थ मालूम हो गया—"कचं केशं हरतीति कचहरी।" जो कुछ जोड़-बटोड़, काढ़-मूसकर रुपए ले गया था, सब उठ गये। हिन्दी का पक्षपाती होता हुआ भी उर्दू की लिखाई के लिए रुपए खर्च किये। हक के भव्य नाम से पुकारी जाने वाली रिशवत भी दी। मई के महीने की मुँह पर चपेट मारने वाली लू का तो कहना ही क्या था? स्वर्ग के स्वप्न को थोड़े ही में वास्तविक रूप देना उसके लिए कुछ कठिन न था।

पूर्वजों के पुण्य-प्रताप और आप लोगों के आशीर्वाद से सकुशल घर लौट आया। "जान बची लाखों पाये।" इतना सन्तोष अवश्य हुआ कि १।) रुपए साल का मालगुजार जमींदार बन गया। मालूम नहीं, अब मैं कर्ज के कानून का लाभ उठा सकूँगा या नहीं?

जमीन मिलते ही कारीगर और ठेकेदार उसी भाँति मँड़राने लगे, जिस प्रकार मुर्दे को देख कर गिद्ध मँड़राते हैं। मुझे भी अपनी महत्ता का भान होने लगा। जब से रियासत छोड़ी थी, लोग मेरे पीछे नहीं चलते थे और इक्के ताँगे वालों के सिवा कोई मुझसे 'हुजूर' नहीं कहता था, एकदम हुजूर, साहब और गरीब-परवर, अन्नदाता सब कुछ बन गया।

विघ्नों का भय सामने था, किन्तु मुझे महात्मा भर्तृहरि के वाक्य याद आये कि नीच लोग विघ्न के भय से कार्य प्रारम्भ नहीं करते 'प्रारभ्यते न विघ्नभयेन नीचैः'। अच्छे आदमी तो विघ्न आने पर भी अपने उद्देश्य से नहीं टलते। मैं अपने को अच्छा ही आदमी सिद्ध करना चाहता था, और आँख बन्द कर गढ़े में मकान बनाने के कार्यरूप गढ़े में कूद पड़ा। नक्शा बना, उसमें पैसे के सुबीते के अतिरिक्त सभी सुबीते देखे गये। लाख विश्वास दिलाने पर (केवल गङ्गाजली नहीं उठाई) ठेकेदार को विश्वास न हुआ कि मैं गरीब आदमी हूँ। दिल्ली-दरवाजे मकान बनाने वाले सभी लोग सम्पन्न गिने जाते हैं, किन्तु ठेकेदार यह भूल जाता है कि काबुल में भी गधे होते हैं।

बुद्धिमान पुरुष का यह कर्तव्य होता है कि पहले व्यय का अनुमान कराकर कार्य प्रारंभ करें। मैं अनुमान इस भय से नहीं कराता था कि शायद भारी रकम देखकर कार्यारंभ ही न कर सकूँ, और कहीं मेरा सोने का घर मिट्टी में न मिलजाय। बिना आगा-पीछा देखे, विघ्नेश का नाम लेकर, नींव खुदना

शुरू हुई। नीव के लिए मैं समझता था, गढ़े में होने के कारण कम खुदाई की आवश्यकता होगी। जिधर गढ़ा नहीं था, उधर थोड़ी ही दूर पर पक्की जमीन निकल आई और गढ़े की ओर जितना खोदा जाता, उतना ही पक्की जमीन दूर होती जाती। नींव जैसे-जैसे नीचे जाती, वैसे-वैसे ही मेरा दिल भी गढ़े में बैठता जाता। पृथ्वी पर जो कुदाली चलती, वह मानो मेरी छाती पर ही चलती। लोग पूछते, क्या 'प्रोग्रेस' अर्थात् उन्नति हो रही है, मैं कहता, भाई, प्रोग्रेस नहीं, रिग्रेस (अवनति) हो रही है। नींव जितनी गहरी जाती उतनी ही मेरी आशा का क्षितिज दूर हटता। मैं सोचता—कहीं पुराने जमाने की बात न हो जाय कि नींव तब भरी जाती थी, जब पानी चूने लगे। खैर राम-राम कर सात फीट पर पक्की जमीन के दर्शन हुए। उतनी ही प्रसन्नता हुई, जितनी जहाज के यात्री को समुद्र का किनारा देखने पर हो। कुछ किफायतशारी करने की बात चलाई। सभी ने मुक्त कंठ से बड़ी बुद्धिमत्ता प्रदर्शित करते हुए, तहखाने का परामर्श दिया, मानो तहखाना कोई ऐसा छू-मंतर था, जिससे मेरी कठिनाइयों का अन्त हो जायगा।

तहखाना बनना शुरू हुआ, और ईंट-चूने का स्वाहा होने लगा। जनमेजय के नागयज्ञ की भाँति शाम तक एक-एक ईंट का हवन हो जाता। जब काम जोरों से चला तो यदि ईंट हो तो चूना नहीं, और चूना हो तो ईंट नहीं। 'शाकाय वा लवणाय वा' की बात हो गई। दाल हो तो रोटी नहीं, और रोटी हो तो दाल नहीं।

मकान गढ़े में होने के कारण ठेकेदार को दीवारों को खूब विस्तृत करने का अवसर मिल गया। जितना दीवारों का आकार बढ़ता, उतना ही सुरसा के मुख की भाँति उसके बिल का विस्तार बढ़ता। मैं यह कहते-कहते थक गया कि भाई, मैं घर बना रहा

हूँ, किला नहीं; किन्तु वह यह कहते-कहते न थका कि हुजूर, दरिया में मकान बना रहे हैं, मुझे कुछ नहीं, आप ही को पछताना पड़ेगा।

मेरे मित्रों और सलाहकारों ने भी ठेकेदार का ही पक्ष लिया और मुझे ऐसा भय दिखलाया कि मानो प्रलय-पयोधि उमड़ कर इस छोटे-से गढ़े में भर जाने वाला है या हजरत नूह के तूफान का प्रतिरूप उस तलैया में तैयार होने की खबर मिली है। मुझे भी पंचों की राय के आगे सिर झुकाना पड़ा। "पंच कहें बिल्ली, तो बिल्ली ही सही।" मैंने भी सोचा, "जब ओखली में सर दिया तो चोटों से क्या डरना?" चूने का बिल बड़ा लम्बा-चौड़ा आया। मेरे मित्र ने उसे देखकर कहा कि ठेकेदार और चूने वाले ने मिलकर अवश्य चूना लगाया।

लखनऊ-निवासी मेरे मित्र शिवकुमारजी ने आशीर्वाद दिया कि तुझे गढ़े में गुप्त धन गढ़ा मिल जायगा। मैंने कहा कि गढ़ा हुआ धन तो क्या मिलेगा, किन्तु मैं अपना कठिनता से संचित किया हुआ धन ईंटों के रूप में पृथ्वी में गाढ़ रहा हूँ।

पुराने लोग भी धन जमीन में ही गाढ़ते थे। सनातन-धर्म की रीति से मेरा रुपया वसुन्धरा बैंक में जमा होने लगा। मेरे एक मित्र ने मुझे घबराते हुए देखकर कहा, "अभी तो इब्तिदा-ए इश्क है, रोता है क्या, आगे-आगे देखिए होता है क्या?" मैंने कहा, बस आगे यही होना है कि धन का स्वाहा कर संन्यास धारण कर लूँ। पहले लोग वर्णमाला का इस प्रकार अर्थ लगाते थे—'क' से कमाओ, 'ख' से खाओ, 'ग' से गाओ, प्रसन्न रहो, और सब के पीछे धन और शक्ति रहे, तो 'घ' से घर बनाओ। मैं आजकल 'घ' को सबसे पहला स्थान दे रहा हूँ।

पक्की जमीन से दीवारें सात फीट ऊपर आ गई हैं। हाथी डुबान नहीं, तो मुझ ऐसे शर्मदार, पस्तःक़द और पस्तहिम्मत

मनुष्य-डुबान तो नींव गहरी हो गई है। मैं अशरफुल मख़लूक़ात हाथी से किस बात में कम हूँ? फिर भी अभी 'दिल्ली दूरस्त' की भाँति प्लिन्थ दूर है। शायद दिल्ली-दरवाज़े मकान बनाने का प्रभाव हो। जिस बात को मैंने दिल-बहलाव की चीज़ समझा था, वह अब बवाल-जान बन गई है। चन्दन घिसना ही दूसरा दर्द-सर हो गया है। लोग कहते हैं, "देर आयद, दुरुस्त आयद।" जली तो जली, पर सिकी अच्छी। अब तकलीफ़ उठाते हो, तो पीछे से आराम मिलेगा? भाई साहब! मुझे तो नौ नक़द चाहिए, तेरह उधार नहीं। अभी तो गढ़े की जमीन में इतनी भी गुञ्जाइश नहीं कि एक छप्पर डाल कर दुपहरी में (रात में नहीं) वहीं सो जाया करूँ। रुपया खर्च करने पर इतना ही संतोष मिला है कि एक दिन की वर्षा से गढ़े भर जाने के कारण वेद-ध्वनि से समता रखने वाली दादुर-ध्वनि चारों ओर से सुनाई पड़ती है, और बाबा तुलसीदासजी की निम्नोलिखित चौपाई याद आ जाती है—

'दादुर-धुनि चहुँ ओर सुहाई,
बेद पढ़हिं जिमि बटु समुदाई।'

पहले ज़माने में वेद-पाठ सुनने के लिए राजा-महाराजा लोग हजारों रुपया ख़र्च कर देते थे। इस कलियुग में दादुर-ध्वनि सुनने के लिए पाँच-सात हज़ार ख़र्च हो जाय, तो कौन बुराई है? दूसरा संतोष यह है कि मैं स्वयं ठग गया, दूसरे को नहीं ठगा। कबीरदास की भी यही शिक्षा है—

'कबिरा' आप ठगाइए, और न ठगिए कोय।
आप ठगा सुख होत है, और ठगे दुख होय॥

रोज़ प्रातःकाल ईंटों के तक़ाज़े के लिए भट्टे पर जाना पड़ता है। साम-दाम-दण्ड-भेद सब उपाय करने पर दो हज़ार ईंटें पहुँच पाती हैं, जिसे हमारे विश्वकर्मा के अवतार मिस्टर

भोंदाराम कॉन्ट्रैक्टरजी 'ऊँट के मुंह के जीरे' से भी कम बतलाते हैं। मेरी चरम साधना के फल को इस प्रकार तिरस्कृत होते देख कर सात्त्विक रोष आ जाता है। मैं चाहता हूँ कि इन सब झंझटों से कहीं दूर भाग जाऊँ। शगल बहुत हो लिया, उससे आगे आ गया, किन्तु अब दूर भी नहीं भागा जाता। साँप-छछूँदर की-सी गति हो रही है। मेरा उस साधु का सा हाल हुआ जिसने कम्बल के धोके तैरते हुए रीछ को पकड़ लिया था। फिर वह उस कम्बल को छोड़ना चाहता था लेकिन कम्बल उसे नहीं छोड़ता था। कहाँ प्रातःकाल का ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्य-रसास्वादन और कहाँ ईंट के भट्टों की हाजिरी ? कहाँ वेदान्त-वार्ता और कहाँ भुस का भाव ? किन्तु अब क्या किया जाय ?

"माया बस जोव गुसाईं;
बँध्यौ कीर-मरकट की नाईं।"

बस, मायाधीश भगवान ही इस माया-जाल से मुक्त करें तो मुक्त हो सकता हूँ, नहीं तो कोई छुटकारा नहीं। त्राहि माम्! त्राहि माम्! त्राहि माम्!

हानि-लाभ का लेखा-जोखा

(मेरा मकान २)

मुसलमानों के यहाँ मुसव्विरी करना गुनाह समझा जाता है, क्योंकि चित्रकार एक प्रकार से खुदा की बराबरी करने की स्पर्द्धा करता है। शायद इसीलिए अल्लाह-ताला लेखकों से भी नाराज रहते हैं क्योंकि कि वे भी अपने रचनात्मक कार्य द्वारा परमात्मा की होड़ करते हैं। कवियों ने अपनी रचना को एकदम परमात्मा की सृष्टि से भी बढ़ा हुआ बतला दिया है। काव्य प्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य ने कहा है कि कवि की भारती विधि की सृष्टि से परे और शुद्ध अल्हाद से बनी हुई है। भगवान की सृष्टि में तो शुद्ध आल्हाद बिजली के प्रकाश में भी खोजने पर बड़ी मुश्किल से मिलता है किन्तु लेखक अपनी कल्पना की उड़ान में उसे सुलभ बना देते हैं। फिर परमात्मा लेखकों से क्यों न रूठे ? यदि लेखक लोग शब्दों के महल और हवाई किलों के अलावा ईंट-चूने के मकान बनाने का भी साहस करें तो नीम चढ़े करेले की बात हो जाय। ईश्वर मनुष्य की इस डबल स्पर्द्धा को कहां सहन कर सकते ?

मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। ठोक-पीटकर लोगों ने मुझे लेखक-राज बना ही दिया और मैं स्वयं भी अपने को पाँचवें सवारों में गिनने लग गया। अपने को बड़ा आदमी समझने के कारण ही छतरपुर से नौकरी छोड़ने के पश्चात दूसरी जगह की नौकरी न निभा सका। नौकरी करना तो टेढ़ी खीर है। उसमें बड़े आत्म-संयम की जरूरत है, किन्तु मैं तो जैन बोर्डिंग हाउस के लड़कों को कायदे के घेरे में बन्द रखने का बाइज्जत काम भी न संभाल सका। अब यदि इतने पर भी संतुष्ट रहता तो गनीमत थी—बाप दादों की नहीं, अपनी ही भलमनसाहत लिए बैठा रहता तब तक विशेष हानि नहीं थी।

दूसरे प्रोफेसरों को कोठियों में रहते देख (मैं भी प्रोफेसरों में करीब-करीब बेमुल्क का नवाब हूँ) मुझे भी कोठी बनाने का शौक चर्राया। मेरे सामने दो आदर्श थे। श्री भोंदाराम जी ठेकेदार तो चाहते थे कि अकबर की इस नगरी में कम से कम लाल पत्थर के किले की टक्कर का एक दूसरा किला बनवाऊँ और मेरी इच्छा थी कि अपने पड़ोस के काछियों के अनुकरण में एक झोपड़ी डाल लूँ। इन्हीं परस्पर विरोधिनी इच्छाओं के फलस्वरूप मेरा मकान तैयार हो गया जो अभी सामने से एक मंजिल है और पीछे से दुमंजिला है।

मैं चाहता तो झोपड़ी ही बनाता, परन्तु जिस प्रकार पूर्वजन्म के संस्कारों पर विजय पाना कठिन हो जाता है उसी प्रकार नींव की दीवारें चौड़ी चिन कर उन पर झोंपड़ी बनाना असंभव हो गया। प्रत्यक्ष रूप से मूर्ख कहे जाने का भार अपने ऊपर लेने को मैं तैयार न था। जब लोग इतनी बड़ी वृटिश सरकार का 'टॉपहेवी' कहने में नहीं चूकते, तो मेरे मकान को 'बॉटम हेवी' कहने से किसका मुँह बंद किया जाता। 'टॉप हेवी' के लिए तो एक बहाना भी है—'सिर बड़ा सरदार का' मेरे पास ऐसा कोई

बहाना भी न था। मैं शहर में रहकर गंवार नहीं बनना चाहता था। मकान फूस से क्या लकड़ी से भी न पटा। उसमें डाटें लगाईं गईं। उस सम्बन्ध में मेरे छोटे भाई बाबू रामचन्द्र गुप्त तथा मेरी श्रीमतीजी के बड़े भाई लाला कालीचरणजी ने ठेकेदार महोदय को कई बार डाट-फटकार बताने का मौका पाया।

अब मैं डाट का अर्थ समझ गया--डाट ईंट-चूने की उस बनावट को कहते हैं जो सदा अपना भार लिए धूप और मेह के साथ रण में डटी रहती है, किन्तु उसे डटी रहने के लिए स्वयं धूप और मेह की पर्वाह न करके डटा रहना पड़ता है और समय-समय पर ठेकेदार को भी डाट देनी पड़ती है। इस प्रकार मेरा शब्द-कोष (अर्थ-कोष नहीं) बहुत बढ़ गया है, अब मैं कछ, डाढ़ा, चीरा, हॉफ-मेट, होल-पाम, नासिक, चश्मा, ठेवी आदि वस्तुकला के पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझने लगा हूँ। एक बात और भी मालूम होगई है। आजकल की सभ्यता की काट-छाट का प्रभाव वस्तुकला पर भी पड़ा है। इस युग में मूँछे कट-छट कर तितली बनी और फिर तितली बनकर उड़ गईं। कोट आधे हो गये। पेंट भी शोर्ट होगईं। कमीज की बाँहें और गले मुख्तसर बनने लगे। जूतों का स्थान चप्पल और सेन्डलों ने ले लिया। नाटक एकाङ्की ही रह गया। इसी प्रकार मकानों में चौखट न बनकर तिखट बनने लगी। आजकल की चौखटों के नीचे की बाजू नहीं होती सूर के बाल-कृष्ण को देहली लांघनें में जो कठिनाई हुई थी वह मेरे नाती-पोतों को नहीं होगी।

अर्थकोष के क्षय के साथ शब्दकोष की वृद्धि उचित न्याय है—'एवज मावजा गिला न दारद।' इधर का लेखा उधर बराबर हो गया। और नहीं तो परि वृत्ति अलंकार का एक नया उदाहरण मिल गया है। बेर देकर मोती लेना कहूँ या इसका उल्टा?

जिस प्रकार शुरू में जनमेजय के नागयज्ञ की तरह ईंट-चूने का स्वाहा होता था उसी प्रकार पीछे धन का स्वाहा होने लगा, और मैं भी घर फूँक तमाशा देखने का अस्पृहणीय सुख अनुभव करने लगा। एक के बाद दूसरी पासबुक चुकती हुई, फिर कैश-सार्टिफिकेटों पर नौबत आई और पीछे रिजर्व बैंक के शेयर वारंट भी जो भाग्यशालियों को ही मिले थे, अछूते न रहे। वे बेचारे भी काम आये। मैं 'पुरुष-पुरातन की बधू' के मादक संसर्ग से मुक्त हो गया, अस्तु यह थोड़ा लाभ नहीं। कविवर बिहारीलाल ने कहा है।

"कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वा खाए बौराय नर, वा पाये बौराय॥"

अब मुझे कनक (धन) मद न सता पायगा, और मैं बौराया न कहाँऊगा। दार्शनिक के नाते यदि कोई मुझे पागल कह लेता, तो मैं इसे दार्शनिक होने का प्रमाण-पत्र मानकर प्रसन्न होता, किन्तु धन मद से लाञ्छित होना मैं पाप समझता हूँ। कांग्रेसी मंत्रि-मंडल पर अनंत श्रद्धा रखता हुआ भी मैं यह कहने को तैयार हूँ कि धन के मद से तो भंग-भवानी और वारुणीदेवी का मद ही श्रेयस्कर है। इसमें अपना ही अपमान होता है दूसरे का तो नहीं।

एक महाशय ने मेरे घर के तहखाने को देखकर कहा कि आपके घर में ठंडक तो खूब रहती होगी? मैंने उत्तर दिया, जी हाँ। जब रुपए की गर्मी न रही, तब ठंढक रहना एक वैज्ञानिक सत्य ही है। इस पर उन्होंने तहखानों के संबंध में सेनापति का निम्नलिखित छंद सुनाया—

"सेनापति ऊँचे दिनकर के चुवति लुवैं नद, नदी, कुँवैं
कोपि डारत सुखाइ कै। चलत पवन, मुरझात उपवन बन,
लाग्यौ है तपन, डार्यो भूतलौं तपाइ कै, भीषम तपत रितु,

ग्रीषम सकुचि तातैं सीरक छिपी है तहखानन में जाइ कै।
मानौ सीत-कालैं, सीत-लता के जमाइवे कौं, राखे हैं
विरंचि बीज धरा में धराइ कै ॥

मैंने कहा भाई साहब वस्तु हाथ से गई, फिर छाया भी न मिले, तो पूरा अत्याचार ही ठहरा। पहले के लोगों के तहखाने धन से भरे रहते थे, अब छाया ही सही। यदि गेहूँ नहीं तो भूसा ही गनीमत है।

धन का रोना अधिक न रोऊँगा। अब और लाभ सुनिए। बाहर मकान बनाने का सब से बड़ा प्रलोभन यह होता है कि उसमें थोड़ी सी खेती-बारी करके अपने को वास्तव में शाकाहारी प्रमाणित किया जाय। मेरी खेती भी उन्हीं लोगों की सी है जिनके लिए कहा गया है—

"कर्महीन खेती करै, बर्ध मरै या सूखा परै।"

जब घर बनाने के लिए डेढ़ रुपया रोज खर्च करके दूसरे के कुँए से पैर चलवा कर हौज भरवा लेता था तब तक ही खेती खूब हरी-भरी दिखलाई देती थी। माली महोदय भी "माले मुफ्त दिले बेरहम" की लोकोक्ति का अनुकरण करते हुए पानी की कंजूसी न करते थे। उन दिनों चाँदी की सिंचाई होती थी, फिर भी शाक-पात के दर्शन क्यों न होते? पालक के शाक की क्यारी तो कामधेनु सिद्ध हुई। जितनी काटते उतनी ही बढ़ती। वह वास्तविक अर्थ में पालक थी। गोभी के फूल भी खूब फूले। उन्हें अधिकार से खाया भी क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता में फलों का ही निषेध किया गया है, पत्तों और फूल का नहीं। भगवान् ने कहा है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मां फलेषु कदाचन।" किन्तु जब मकान बन चुका तो अपने ही आप पानी देने की नौबत आई। अब तो श्रीमद्भगवद्गीता का वाक्य अक्षरशः सत्य होता दिखलाई देता है। दिन-रात की सिंचाई के बाद भी पत्र और

पुष्प ही दिखलाई देते हैं। खेत सींचने में निष्काम कर्म का आनन्द मिलता है। मेरी खेती पर मालूम नहीं, अगस्त्यजी की छाया पड़ गई है कि जल से प्लावित क्यारियों में शाम तक पानी का लेश-मात्र भी नहीं रहने पाता। बाबा तुलसीदासजी का अनुकरण करते हुए कह सकता हूँ—जैसे खल के हृदय में संतों का उपदेश। भगवान की तरह मैं भी कुंए पर खड़ा हुआ रीतों को भरा और भरों को रीता किया करता हूँ। मालूम नहीं भगवान इस स्पर्द्धा का क्या बदला देंगे? इतना संतोष अवश्य है कि मेरे कुँएँ का पानी मीठा निकला है। इसमें पूर्वजों का पुण्य-प्रताप ही कहूँगा। कुँएँ का जल ऐसा है कि कभी-कभी मुझे कसम खानी पड़ती है कि यह नलका नहीं है। "तातस्य कूपोऽय-मिति ब्रुवाणः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।" अर्थात् बाप-दादों का कुआँ है, ऐसा कह कर कायर पुरुष खारा पानी पीते हैं। सौभाग्य से मेरी संतान के लिए ऐसा न कहा जायगा।

मेरी खेती में से सिर्फ इतना ही लाभ है कि मुझे पौदों की थोड़ी-बहुत पहचान होगई है। मैं लौकी और काशीफल, टिंडे और करेले के पत्तों में विवेक कर सकता हूँ। मैं देहली दरवाजे रहते हुए भी देहली के उन लोगों में से नहीं हूँ जिन्होंने कभी अपनी उम्र में चने का पेड़ नहीं देखा। बहुत कुछ जमा लगने पर मैं यह तो न कहूँगा कि कुछ न जमा। जमा सिर्फ इतना ही कि मेरे यहाँ की भूमि वंध्या होने के दोष से बच गई। जिस प्रकार हजरत नूह की किश्ती में सब जानवरों का एक जोड़ा नमूने के तौर पर बच रहा उसी प्रकार मेरी खेती में विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए दो-दो नमूने हर एक चीज के मिल जायंगे और बाबा तुलसीदासजी के शब्दों में यह न कहना पड़ेगा:—

'ऊसर बरसे तृण नहीं जामा।
संत हृदय जस उपज न कामा॥'

जमीन को क्यों दोष दूँ । मेरी खेती पर चिड़ियों की भी विशेष कृपा रहती है। वे मेरे बोए हुए बीज को जमीन में पड़ा नहीं देख सकतीं और मैं भी खेत चुग लिए जाने के पूर्व सचेत नहीं होता । फिर पछतावे से क्या ?

मैं अपनी छोटी सी दुनियाँ में किसानों की अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभाः, शुकाः सभी ईतियों का अनुभव कर लेता हूँ। सोचा था—वर्षा के दिनों में खेती का राग अच्छा चलेगा किन्तु गढ़े में होने के कारण साधारण वृष्टि भी अतिवृष्टि का रूप धारण कर लेती है। दो रोज की वर्षा में ही जल-प्लावन होगया । सृष्टि के आदिम दिनों का दृश्य याद आगया। मुझे भी अभाव की चपल बालिका चिन्ता का सामना करना पड़ा। पसीना बहाकर सींचे हुए वृक्ष, जिन्हें बड़ी मुश्किल से ग्रीष्म के घोर आतप से बचा पाया था, जल-समाधि लेकर विदा हो गये। जीवन (जल) ही उनके जीवन का घातक बना ।

शहर से कुछ दूर होने के कारण मेरे नापित महोदय मेरे ऊपर अब कृपा नहीं करते । यद्यपि मेरे नापितदेव धूर्त तो नहीं है तथापि नापित को शास्त्रों में धूर्त कहा है। 'नराणां नापितो धूर्त:'। इस प्रकार मेरा एक धूर्त से पीछा छूटा। जो तृतीय श्रेणी के न्यायी ब्राह्मण मेरे ऊपर कृपा करना चाहते हैं उन पर कृपा करने से मुझे संकोच होता है। अब मैं स्वयंशेवक (स्वयं शेव करने वाला) बन गया हूँ और देश के हित में टमाटर और पालक के विटैमिन-बाहुल्य से बने अपने अमूल्य रक्त के दो चार बिन्दु नित्य समर्पण करना सीख गया हूँ। शायद सर कटाने की कभी नौबत आय तो इतना संकोच नहीं होगा। सर के बजाय बाल तो दो-चार महीने में और नाखून दो-एक सप्ताह में कटवाही लेता हूँ। फिर भी लोग कहते है बलिदान का समय नहीं रहा ।

मैं अपने मकान तक पहुंचने के रास्ते के सम्बन्ध में दो एक बात कहे बिना इस लेख को समाप्त नहीं कर सकता। उससे मुझे जो लाभ हुआ है वह उमर भर नहीं हुआ था। मैंने अपने जीवन में इस बात की कोशिश की थी कि दूसरों को धोका न दूँ; इसलिए मुझे गालियाँ भी शायद ही मिली हों। लेकिन इस सड़क की बदौलत मुझे इक्के-तांगे वालों से रोज गालियाँ सुननी पड़ती हैं। पीठ फेरते ही वे कह उठते हैं। "बेईमान दिल्ली-दरबाजे की कहकर गांव के दगड़े में खींच लाया है। मैं भी उनके गालियों का विवाह की गालियों के समान आदर करता हूँ, और चुङ्गी के विधायकों का स्मरण कर लेता हूँ कि—"कबहुँक दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान ?" गाँव की सड़कें भी इसकी प्रतिद्वन्द्वता नहीं कर सकतीं। बन जाते हुए श्रीरामचंद्रजी के सम्बन्ध में तुलसीदासजी ने कहा है--"कठिन भूमि कोमल पदगामी।" मेरे लिए शायद उन्हें कहना पड़ता "कोमल भूमि कठिन पदगामी।" पवित्र ब्रज रज तथा खाके वतन से पूर्ण इस सड़क में जूते इस प्रकार से समा जाते हैं जैसे किसी साहब के ड्राइंगरूम के कुशन में शहर के किसी मोटे रईस का सारा शरीर। यदि कहीं जूतों को धूलि धूसरित होने से बचाकर उनकी शान रखना चाहूँ तो, दूसरों की कोठी में ट्रेसपास करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। किन्तु इसमें मेरी शान जाती है। दूसरी कोठियों के लोग वाणी से तो नहीं किन्तु कभी-कभी मधुर व्यंग्य) द्वारा अवश्य विरोध करते हैं।*

---

*चुङ्गी की कृपा से अब कोलतार की सड़क बन गई है। उस काली सड़क ने मेरा और चुङ्गी का मुख उज्ज्वल कर दिया है किन्तु वह प्रेम गली की भाँति अति सांकरी है 'जा में दो न समाँय'।

रात्रि को जब घर लौटता हूँ तो कबीर के बताये हुए ईश्वर मार्ग की कनक और कामिनी रुपिणी बाधाओं के समान 'सूद' और 'लाल' की कोठियाँ मिलती हैं। मेरी पदध्वनि सुनते ही उनके श्वान-देव उन्मुक्त कण्ठ से मेरा स्वागत करते हैं। उनके लिए मुझे दण्डधारी होकर कभी-कभी उद्दण्ड होना पड़ता है। अब मुझे इन स्वामिभक्त पशुओं के नाम भी याद हो गए हैं। एक का नाम टाइगर है और दूसरे का कालू। नामोच्चारण करने से दण्ड का प्रयोग नहीं करना पड़ता। जब इन घाटियों को पार कर लेता हूँ तभी जान में जान आती है। हमारे घरों में ही बिजली का प्रकाश है किन्तु रास्ते में पूर्ण अन्धकार का साम्राज्य रहता है और मुझे उपनिषदों का वाक्य याद आ जाता है "असूर्या नामते लोका अन्धेन तमसा वृता" मालूम नहीं उस के लिए कौनसे पाप का उदय हो जाता है। "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की प्रार्थना करता हुआ जैसे-तैसे राम-राम करके घर पहुँचता हूँ। रोज सबेरा होता है और उन्हीं मुसीबतों का सामना करना पड़ता है।

इन सब आपत्तियों को सहकर भी बस इतना ही संतोष है कि उन्मुक्त वायु का सेवन कर सकता हूँ और बगीचे के होते हुए मुझे यह समस्या नहीं रहती कि क्या करूँ? जूतियाँ सीने से अधिक श्रेयस्कर काम मिल जाता है। शास्त्रकारों का कथन है—

'बेकार मुबाश कुछ किया कर,
यदि कुछ न हो तो जूतियां सीया कर।'

और कुछ नहीं होता तो खुरपी लेकर क्यारियों को ही निराता रहता हूँ, और चतुर किसानों में अपने गिने जाने की स्पर्द्धा करता रहता हूं—

"कृषी निरावहिँ चतुर किसाना"। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने सन की गांठ के आधार पर बाबा तुलसीदासजी को किसनई का पेशेवाला प्रमाणित किया है। इस बात से मुझे एक बड़ा

सन्तोष हो जाता है कि और किसी बात में न सही तो खेती के काम में ही भक्त शिरोमणि की समानता हो जाय।

अब मेरा यह निष्कर्ष है कि मुझ जैसे बेकार, सकल साधन-हीन आदमी को—जिसके यहाँ न कोई सवारी-शिकारी और न दो चार नौकर चाकर हैं (वैसे तो हमारे उपनिवेश के सभी लोग 'स्वयं दासास्तपस्विनः' वाले सिद्धान्त के मानने वाले हैं) —कोठी बनाकर न रहना चाहिए।

नर से नारायण

(मेरा मकान बाढ़ में—३)

ताजा-ब-ताजा नौ-ब-नौ गर्मागर्म प्रतिक्षण की टटकी खबर सुनने के अभ्यस्त नारद मुनि के अवतार स्वरूप समाचार पत्रों के समुत्सुक पाठकों को जब सात समुन्दर पार विलायत की भी एक छाक की पुरानी खबरें बासी और बेमजा लगती हैं तब उनको आगरे की कई महीने की पुरानी बात सुनाना उनकी सुरुचि का अपमान करना ही नहीं है वरन् उनकों 'ब्लेक होल' की यातना देना होगा। इस बात को भली प्रकार जानते हुए भी मैं आगरे में आई हुई सितम्बर १९३९ की बाढ़ का हाल सुनाने का दुस्साहस कर रहा हूँ।

उस समय मैं स्वयं बाढ़-पीड़ित हो करुणा का पात्र बना हुआ था। मेरे होश ठिकाने न थे। कहता भी तो क्या कहता? कुँएँ में गिरा हुआ मनुष्य जब तक उससे बाहर न निकल आये तब तक अपने गिरने का हाल कैसे बताये? अब मेरा मकान कुछ-कुछ पूर्व स्थिति पर आ चला था। ईश्वर की परम कृपा और पूर्वजों के पुण्य-प्रताप से सर के ऊपर की छत तो बची हुई थी लेकिन फर्श बैठ जाने से मेरे पैरों तले की जमीन खिसक गई

थी। बिना त्याग और तपस्या के घर ही वन बन गया था। कमरों में खाइयाँ और पहाड़ दिखाई देते और कुछ दिन के लिए सरिता तो नहीं घर सरोवर अवश्य बन गया था। गिट्टी के नुकीले टुकड़े जो भारत माता के लाड़िले सपूतों की भाँति एक दूसरे से मुँह मोड़े पड़े हुए थे, मेरे कोमल पदों में तो क्या कठोर पदों में भी आघात पहुँचाने के लिए पर्याप्त थे। उनको देखकर मुझे एक फरासीसी रहस्यवादी महिला को जिसका नाम मेडन ग्वेन था याद आ जाती थी। उसके बारे में कहा जाता है कि वह अपने जूतों में इसलिए कंकड़ डाल लेती थी कि उसके शरीर को कष्ट पहुँचता रहे, वह विलासिता में न पड़े और ईश्वर को याद करती रहे। मैं भी खुदाताला का हजार हजार शुक्र बजा लाया कि उसने मुझे अपनी याद का सामान मुहैया कर दिया था।

वरुण महाराज की कृपा

बाढ़ की बात अभी तक न सुनाने का एक कारण और भी था। वह यह कि खबर को सरस कहानी का रूप देने के लिए कुछ समय की जरूरत होती है। पाल में रक्खे हुए आमों में ही रस आता है। बाढ़ चली गई लेकिन उसका प्रभाव अभी तक यत्र-तत्र-सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। इसलिये बात नितान्त पुरानी भी नहीं हुई है। जगबीती न सुना कर पहले आप बीती ही सुनाऊँगा। 'अव्वल खेश बादहू दरवेश'। खैर अब सुनिए। सितम्बर के महीने में, आगरे में पानी की त्राहि-त्राहि मच हुई थी मैंने भी वैश्य धर्म के पालने के लिए पास के एक खेत में चरी बों रक्खी थी। ज्वार की पत्तियाँ ऐंठ-ऐंठ कर बत्तियाँ बन गई थीं। मैं भी जीव-दया प्रचारिणी सभा का भूतपूर्व मेम्बर होने के नाते नौनिहाल किन्तु अब तन मन मुर्झाये हुए नौ उम्र पौदों की बेकसी पर और अपनी गाढ़ी कमाई के बीस रुपयों की बरबादी

पर दो चार आँसू बहा देता। लेकिन उनसे होता क्या? यदि वे रीतिकालीन काव्यों की विरहिणी गोपिकाओं के समान भी होते जिनसे कि समुद्र का पानी खारी हो गया था तो भी वे खारी होने के कारण सिंचाई का काम न देते। खैर फिर भी गरीब किसानों की सार को भस्म करने वाली आहों के बादल बनते दिखाई दिये, 'दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के, ऐसा मालूम' होने लगा कि अब दीनदयाल के कान में भनक पड़ी और शायद यह न कहना पड़े 'का वर्षा जब कृषी सुखानी'। 'धूम-धुआँरे कारे कजरारे' श्याम घनों को देख कर मेरा मन-मयूर नृत्य करने लगा। बादलों की उपयोगिता की अपेक्षा में उनके सौन्दर्य से अधिक प्रभावित होता हूँ। बाहर घूमता फिरा, नन्हीं-नन्हीं बूँदों के सुखद शीतल स्पर्श से पुलकित हुआ। आनन्द और कर्तव्य तथा श्रेय-प्रेय का समन्वय करने कालेज भी गया। यद्यपि मेरी सदा छुट्टी सी ही रहती है तो भी कालेज बन्द हो जाने से बालकपन के संस्कारोंवश प्रसन्नता का अनुभव किया। धुली-धुलाई सड़कों की स्निग्ध, चमकीली छटा तथा चारों ओर के नयनाभिराम छायावादी आर्द्र सौन्दर्य का आस्वादन करता हुआ हँसता-खेलता, खेती की ओर हर्ष-पूर्ण दृष्टिपात करता हुआ उमङ्ग भरे हृदय के साथ घर लौटा।

घर या तालाब

मेंह के कारण शरीर में जो स्फूर्ति आई थी उससे प्रेरित हो लिखने बैठ गया। कभी-कभी बाहर जाकर मेघाच्छादित गगनमण्डल की शोभा निरख लेता था। किन्तु मैं यह नहीं जानता था कि इस सौन्दर्य में इतना विष भरा है। कभी-कभी पीछे की ओर बगीचे में जाकर शेफाली की उदार सुमन-वर्षा का तथा धोये-धोये पत्तोंवाली हरित-ललित-यौवन भरी लहलहाती

लौनी लताओं के सौन्दर्य-मधु को अपने सतृष्ण नेत्रों द्वारा पान कर लेता था।

पीछे की तरफ प्रायः एक फुट पानी भर गया। मेरी सौन्दर्योपासना अविचिलित रही क्योंकि ऐसा कई बार हो चुका था। बच्चे भी घर की गङ्गाजी में कागज की नावें तैरा कर खुश हो रहे थे। मैं अपनी सूखी खेती के पुनर्जीवन प्राप्त करने के स्वप्न में मग्न था। सायङ्काल तक सारा दृश्य रस के दोनों अर्थों में रसमय था। वह जलमय था और आनन्दमय भी। यद्यपि पानी के साथ थोड़ी-थोड़ी आशङ्का बढ़ रही थी तथापि मामला रस से विरस नहीं हुआ था। 'सिमिट सिमिट जल भरहिं तलावा' जिस प्रकार सज्जन के पास सद्‌गुण आते हैं अथवा आजकल के युग में बेकारों की अर्जियों से दफ्तर बन जाते हैं वैसे ही चारों ओर के पानी से मेरे पास की जमीन तालाब बनी हुई थी। घर में इस बात का प्रश्न अवश्य उठा था कि कहीं तालाब अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन करके अपने विस्तार को मेरे घर तक न ले जाय; किन्तु वह शङ्का असम्भव मान कर टाल दी गई। उस समय कुछ किया भी नहीं जा सकता था। मेरे सेलरों के रोशनदान तीन फुट की ऊँचाई पर थे। यह सब ऊहापोह हो ही रहा था कि पास की जमीन का पानी मर्यादा के बाहर होकर मेरी जमीन में आ गया। वह क्यों न आता? मेरे मकान में बाउन्ड्री वाल भी नहीं थी। मैं देश और राज्य की सीमाओं को जब क्षुद्र समझता था तब घर के चारों ओर क्यों सीमा बाँधता? मैं तो अनन्त का उपासक ठहरा। मैं रवीन्द्र बाबू के साथ स्वर में स्वर मिला कर तो नहीं—(मेरा कण्ठ कर्कश है उनका कोमल था। मुझे तानसेन की कब्र की इमली की पत्तियाँ खाने पर भी गाना नहीं आया) परन्तु उनके भाव से तादात्म्य कर कहा करता था—'जेथा गृहेर प्राचीर

आपन प्राङ्गण तले दिवसशर्व्वरी। वसुधारे राखे नाइ खण्ड क्षुद्र करि। फिर मैं अपने ममान का दूसरों के मकान से पार्थक्य क्यों करता।

अन्धेन तमसावृता

थोड़ी ही देर में पानी रोशनदान के मुँह तक पहुँच गया और उनमें होकर जलप्रपात होने लगा। नाइग्रा फॉल मैंने देखा तो नहीं है किन्तु उसीका सा कुछ-कुछ दृश्य उपस्थित हो गया।

मैं अपने तहखाने के रोशनदानों पर गर्व किया करता था कि मैं उनके कारण सायंकाल को भी उनमें बैठ कर लिख पढ़ सकता था। जो महाशय मेरा मकान देखने की कृपा करते उनसे मैं अपने तहखानों के आरपार वायुसंचार की तारीफ़ बड़ी प्रसन्नता के साथ करता था क्योंकि उससे मुझे अपनी टूटी-फूटी शान और स्वास्थ्य-विज्ञान संबन्धी ज्ञान के प्रदर्शन का मौका मिल जाता। क्रॉस वेन्टीलेशन की शान ही वबाले-जान बन गई। सौन्दर्य-प्रिय होते हुए तहखाने के झरनों को पुष्ट मांसल सौन्दर्य का आस्वादन न कर सका। यदि घर फूँक तमाशा भी देखना चाहता तो नामुमकिन हो गया था। एक साथ बिजली ठप हो गई। घर फूँक तमाशा देखने वाले को कम से कम प्रकाश की तो ज़रूरत नहीं होती। यहाँ तो पूर्व-जन्म के पापों के उदय होने के कारण 'असूर्या नाम ते लोका: अन्धेन तमसावृता' का दृश्य उपस्थित हो गया। घनी कालिमा बिना स्तर स्तर जमे ही पीन होने लगी। सूचीभेद्य अंधकार का साम्राज्य हो गया। हाथों हाथ नहीं सूझता था। दायाँ हाथ बायें हाथ की बात नहीं जान सकता था। सर से सर टकराने की नौबत आगई थी। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की पुकार होने लगी।

मेरे घर में कोई सिगरेट बीड़ी नहीं पीता इसलिए उसमें

कभी-कभी दियासलाई का मिलना ऐसा दुश्वार हो जाता है जैसे कि आजकल के बाबू लोगों के घर में गङ्गाजल, चन्दन और माला का, अथवा किसी रायबहादुर के घर में गान्धी टोपी का। उस समय दियासलाई का मिलना ज्योतिस्वरूप एवं ज्योतिस्रोत परामात्मा के मिलने के बराबर हो गया। लालटेन स्नेह शून्य निकली। एक टूटी-फूटी टार्च थी किन्तु उसके ढूँढने के लिए भी टार्च की ज़रूरत पड़ती। सन्दल घिसने की भाँति वह कम सर दर्द न था। उस समय के अन्धकार में मेरी अव्यावहारिकता पर विद्युत प्रकाश पड़ रहा था। और सेलरों के निर्झर मेरी महान मूर्खता की सनाद घोषणा कर रहे थे। खैर, जैसे-तैसे दीपक का आयोजन हुआ। उसको झंझावात का सामना करना पड़ा। हथेली और अञ्चल से उसकी कहाँ तक रक्षा होती? मेरे चाकरदेव पड़ोस से लालटेन लाये। इतने में मेरा चालीस फुट लम्बा सेलर सेन्ट-जाँस कालेज़ के स्विमिंग-बाथ की होड़ करने लगा। हम लोग शान्ति पूर्वक सबके साथ भीतर घर में बैठ गये। सोचा कि चलो यह भी तजुर्बा हो गया। विश्वकर्मा के साक्षात अवतार श्रीमान भौंदाराम जी ठेकेदार की बात कि 'हुजूर दरिया में घर बनाते हैं' जिजमान के बालों की भाँति सामने आगई। प्रलयपयोधि उमड़ रहे थे। 'प्रालेय हालाहल नीर' बरसने लगा। मेरे दरिया में तूफान आगया।

नूह की किश्ती की खोज

मैं अपने हाल को नूह की किश्ती या मनु की नौका समझ रहा था। उस समय तक भी, 'अभाव की चपल बालिका, चिन्ता की प्रथम रेखा मेरे ललाट प्राङ्गण में खेलती हुई नहीं दिखाई दी किन्तु थोड़ी ही देर में पास के कमरे से 'चलियो' की आवाज़ आई। मेरे बाग के माली महोदय श्री मंगलदेवजी जो मेरे मंगल-विधान में

सदा दत्तचित्त रहते थे। चिल्ला उठे 'बाबूजी उधर ही रहना' मैं समझा कहीं से साँप आगया। खैर यह भी सही। मेरे दूसरे चाकरदेव श्रीरणधीर जी ने बड़ी धीरता-पूर्वक कहा कि कुछ नहीं ज़मीन बैठ गई है। बड़े आदमियों की भाँति उसकी बात भी आधी सच थी। जमीन बैठी थी और फ़र्श के पत्थर आपस में सर से सर मिला खड़े हो गये थे, मानों वे सचेत होकर मेरे परित्राण का उपाय सोच रहे हों। उसी समय मेरे सामने मेरी गुर्विणी महिषी (भैंस) की, जिसको कलियुग के व्यासजी ने अपनी कविता से अमर कर दिया है, समस्या मेरे सामने आई। उसका छप्पर भी तालाब बन चुका था। उस पर एक त्रिपाल डाल कर उसे दरवाजे पर खड़ा किया। बहुत कोशिश करने पर भी उसने बरामदे में पैर न रक्खा शायद वह जानती थी कि उसका भी फर्श धसकेगा।

मेरे पड़ोसी सेन्ट जान्स कालेज के सेक्रेटरी ए० एन० बनर्जी साहब अपनी व्यवहारकुशलता की दिव्य दृष्टि से मेरा भविष्य देख चुके थे। वे शाम को ही कह गये थे कि यदि कोई तकलीफ हो तो उनका मकान मेरे 'डिसपोजल' पर है। उस समय तो मैंने उनका सहानुभूति-पूर्ण निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया था किन्तु जब मेरे घर के सामने भी पानी बहने लगा और मेरा मकान प्रायद्वीप से द्वीप बन गया, बराण्डे और शयनागार का भी फर्श बैठ गया और उनकी टाइलें मेरे बैठते हुए दिल की समता करने लगीं तब जल्दी से मैंने बनर्जी साहब का निमन्त्रण स्वीकार किया। मकान से ताला लगा कर उनका द्वार खटखटाया। उन्होंने मुझे, मेरे नौकर तथा मेरी भैंस को अपने यहाँ आश्रय दिया। चिन्ताग्रस्त मनुष्य को जितनी निद्रा आ सकती है उतनी ही नहीं, उससे कुछ अधिक निद्रा मुझे आई क्योंकि कोठी के लिए तो मैंने कड़ा जी कर मन में सोच लिया था 'इदन्न मम इदं

वरुणाय।' निद्रा भङ्ग करने को यदि कोई बात थी तो पड़ोस के काछी-कुम्हार सज्जनों और सज्जनाओं की करुण पुकार थी। मेरी भैंस तो सुरक्षित थी किन्तु गरीब लोगों के जानवर चिल्ला रहे थे। बहुत कोशिश करने पर भी मैं उनकी कुछ सहायता न कर सका, अन्धकार और जल के कारण 'समुझ परहि नहिं पंथ' की बात हो रही थी।

भीगे नयनों के सामने

सुबह उठकर जलप्लावन का व्यापक एवं भयङ्कर दृश्य देखा। मनु की भाँति 'भीगे नयनों से' तो नहीं कुछ करुण हास्य के साथ 'मैं देख रहा था प्रलय प्रवाह' और मुझे भी एक ही तत्व की प्रधानता 'कहो उसे जड़ या चेतन' दिखाई पड़ती थी। मैं स्वयं अपने को कामायनी का मनु ही नहीं वरन् स्वयं नारायण समझने लगा। 'नारासु अयनं यस्य सः नारायणः' मेरा घर भी पानी में था फिर मेरे नारायण होने में क्या कसर थी? इस प्रकार बिना करनी के ही मैं नर से नारायण बना।

प्रातःकाल ही आगरे के महेन्द्र जी अपने स्वर्गस्थ नामरासी की काली करतूतों की आलोचना करने निकल पड़े थे। वे आजानु जल को पार कर मेरे यहाँ पधारे। मैंने अपनी समस्या का भार उनके सुविशाल स्कन्धों पर रख दिया। उन्होंने 'शुक्ल-श्यामाङ्गशोभाढ्या नगरभाग्यविधायिनी, उर्वशीस्वरूपा चिरयौवना श्रीमती चुङ्गी देवी के रसिकपति श्री सेठ ताराचन्दजी से आग बुझाने का इंजन, पानी की बाधा शमन करने के लिए, माँगने का वायदा कर लिया। इञ्जन आया लेकिन अधिक प्रभावशाली और मुझसे कम मुसीबत जदः लोगों के हाथ पड़ गया। स्वार्थों का संघर्ष था। करता भी तो क्या करता? उनके घर के आगे पक्की सड़क थी, मेरे घर के आगे वीनस नगर की सी पानी

की सड़क । विधि के विधान से क्या वश चलता ।

उस रोज सिवाय सहानुभूति प्राप्त करने के कुछ न कर सका महाभारत में कथा है कि एक टिटहरी ने चोंच से समुद्र खाली करने का साहस किया था । हमारे पहले दिन के उद्योग तो करीब करीब वैसे ही रहे । कुम्भज भगवान अगस्त देव की कृपा न हो सकी । उनकी मौसी बाल्टी देवी की जो कुम्भ की सगी छोटी परन्तु भगिनी है गति न थी क्योंकि पानी फेंका भी जाता तो कहाँ ? चारों ओर जल था ! दूसरे दिन अगस्त्य ऋषि का यांत्रिक अवतार फायर बिग्रेड का पम्प टन-टन करता हुआ आया । उसके लिए सिलीपरों की सड़क तैयार करने में विद्यार्थियों ने, जिनमें अधिकतर आगरा कालेज के थे, भगीरथ-प्रयत्न किया । घर में कुल सोलह सिलीपर थे । विद्यार्थीगण पीछे के सिलीपरों को आगे लाकर सड़क बनाते-बनाते उसे मेरे घर ले आये । उस रोज की भीषण वर्षा के कारण फायर बिग्रेड को भी हार माननी पड़ी, जितना पानी निकलता उतना ही रक्तबीज की भाँति और बढ़ आता । बिचारे विद्यार्थियों ने, जिनमें निजी सम्बन्ध के कारण केवल नृपतिसिंह सत्यदेव पालीवाल, चिरंजीलाल एकाकी, पद्मसिंह शर्मा, तारासिंह धाकरे, प्रमोद चतुर्वेदी का नाम मुझे स्मरण है, कमर कमर पानी में घुस कर बाहर का पानी रोकने के लिए मिट्टी भरे बोरों का बाँध बाँधा, किन्तु सब निष्फल हुआ । प्रकृति के तत्वों से लड़ना हँसी-खेल न था ।

टिटहरी प्रयत्न

तीसरे दिन फिर टिटहरी प्रयत्न शुरू हुए । थालियों से पानी उलीचा गया, चौथे दिन परोहे लगे । पाँचवे दिन बड़ी शिफारिसों से, चेयरमैन साहब के सामने प्रार्थी की भाँति खड़े होकर अर्ज-पर्दाज करने पर इंजन मिला । सेलर का पानी निकला और फिर

संघों से आया। फिर बाल्टियों और परोहों की शरण ली गई। बचा-कुचा कुछ पानी धरती माता ने सोखा और कुछ कुएँ ने पिया। इस प्रकार पूरे सप्ताह बाद जल बाधा मिटी। शायद ब्रज पर भी सात रोज कोप रहा था।

पाँचवे रोज सेन्ट जॉन्स कालेज के स्काउटों द्वारा सेलर का सामान निकला। लोगों ने अफवाहें उड़ा रक्खी थीं कि मेरे घर में ८०००) रु० का नाज भरा था लेकिन हाँ दो शून्य कम करके ८०) रु० का अवश्य होगा। मेरे इटावा निवासी मित्र श्री सूर्य-नारायणजी अग्रवाल मुझे हाथ के कुटे चावल भेज दिया करते हैं। चावल पाँच दिन जलमग्न रहने के कारण वेदान्ती बन गये थे। अब वे शीघ्र ही सिद्ध होकर व्यक्तित्वाभिमान छोड़ देते हैं और एकरस अखण्डमण्डलाकार हो जाते हैं। श्री गुरुदेवजी (गुड़) कबीर की नमक की पुतली की भाँति रसलीन हो गये थे। मेरे सेलर के चूहे छत से चिपके-चिपके छः दिन तक एकादशी मनाते रहे। बगीचा सब बरबाद हो जाने से अब मुझे माली की भी जरूरत नहीं रही है। मेरी कोठी परीक्षा में फेल होते-होते बच गई है। मैं शायद अब झूठ भी कम बोलूँ क्योंकि छत गिरने का अब पहले से अधिक भय हो गया है। मेरी छतें न्यायालयों की छतों से, जहाँ एक न एक पार्टी रोज झूठ बोलती है, कुछ कमजोर हैं। मैं भी ला-मकाँ (ईश्वर) होते-होते बच गया हूँ 'कोपोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः'।

मेरे घर का तो यह हाल था लेकिन मेरे आस-पास भी बहुत खैर न थी— जेल के पास नावें चलने की नौबत आ गई थी। सेन्ट जान्स गर्ल्स स्कूल भी जलमग्न हो रहा था। बाढ़ का प्रभाव बड़ी दूर तक था। गाँव के गाँव जलमग्न हो गये थे। जानें बहुत तो नहीं गईं पर काफी गईं। चार-पाँच दिन बाद जा लोग अपने घर लौट गये थे उनमें से एक परिवार के छः या सात आदमी

दब कर मर गये। पहले दिन जो लोग घर से बाहर गये हुए थे उनको घर लौटना मुश्किल हो गया था। कई जगहें जमीनें बैठ गई थी। आगरा फोर्ट के पास तो सड़क फट गई थी और उनमें एक पुराना घाट निकल आया था, जिसके ऊपर हिन्दू और मुसलमान लोग अपना अपना अधिकार बतलाते थे। खैर अब वह झगड़े की जड़ दबा दी गई है। दो एक जगह सड़क टूट जाने के कारण बिजली के खम्बे भी गिर पड़े थे।

बाढ़-पीड़ितों की लोगों ने अन्न वस्त्रादि से खूब सहायता की सभी शिक्षा संस्थाओं ने छुट्टी करके बाढ़-पीड़ितों को आश्रय दिया। मुझे भी जैन बोर्डिङ्ग में आश्रय मिला था।

अब मैं अपने घर की याद कर हँस सकता हूँ। उन दिनों हास्यरस भी जलमग्न हो जाने के कारण करुणा रस का, जिसके देवता वरुणदेव है, प्राधान्य था। करुणारस के उस लौकिक अनुभव की ईश्वर पुनरावृत्ति न कराये।

आप बीती

(खेती और व्यापार)

उत्तम खेती, मध्यम बञ्ज,
निकृष्ट चाकरी भीख निदान।

ठलुआ-क्लब का सदस्य होने के नाते मेरा सिद्धान्त-वाक्य यही था कि 'अजगर करै न चाकरी, पञ्छी करै न काम, दास मलूका कह गये, सब के दाता राम' फिर भी मेरे पूज्य पितृव्य कहा करते थे 'पूता करिए सोई जामें हंडिया खुदबुद होई।' मेरे पितृचरण जीवित थे इसलिए हँडिया खुदबुद होने की समस्या बड़े तीव्र रूप में तो उपस्थित नहीं हुई किन्तु वह मौत की भांति बहुत दिनों तक टाली न जा सकती थी क्योंकि हमारे यहाँ न जिमीदारी थी न जिजमानी जो बिना हाथ-पैर पीटे घर बैठे ही पैसा आ जाता। यद्यपि वैश्य कुल में जन्म लेने के नाते उत्तम खेती और मध्यम बञ्ज की ओर मेरा स्वाभाविक आकर्षण अधिक था तथापि परिस्थिति-चक्र मुझे नौकरी की ओर ही घसीट ले गया। मनसूबे तो बहुत बाँधे थे। पक्ष-विपक्ष की युक्तियों के तारतम्य को अपनी चरम सीमा तक ले जाने पर वाणिज्य की अपेक्षा मुझे खेती का नैतिक मूल्य बहुत ऊँचा। किन्तु आर्थिक मूल्य के सम्बन्ध में

मेरा मन न भरा। साहित्य-सेवा की भाँति वह भी शौक की वस्तु प्रतीत हुई, सहारे की नहीं।

वाणिज्य में लाभ तो अधिक था 'व्यापारे वसते लक्ष्मी' किन्तु जोखिम भी कम न थी। बिना जोखिम का व्यापार मेरी बाबू-प्रकृति को कुत्ता-घसीटो जँची। मेरे बाबा तो उस कक्षा के दुकानदारों में से थे जो सुबह दुकान झाड़ते वक्त महादेव बाबा से छप्पन करोड़ की चौथाई माँगते हैं, और दिन भर आँख के अन्धे, गाँठ के पूरे ग्राहकों की टोह में रहते हुए भी बस इतना ही घर ले जाते हैं कि सम्मानपूर्वक दोनों वक्त रोटी खा सकें। मेरे पिताजी ने एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास की थी। उनके लिए सरकारी नौकरी का द्वार उन्मुक्त था। वे उसमें प्रवेश कर क्लर्की की अन्तिम श्रेणी यानी जजी की मुन्सरिमी तक पहुँचे। मैंने वकालत भी पास किया था किन्तु उसे भी आकाशी वृत्ति समझ कर निकृष्ट चाकरी की ही शरण लेना पसन्द किया। मैं मोची का मोची हो रह गया। रियासत की नौकरी में दौड़-धूप तो काफी थी, उत्तर-दायित्व भी अधिक था, किन्तु कुत्ता-घसीटी न थी। एक जगह बैठ कर कलम घसीटने के भीषण अभिशाप से बचा हुआ था। पुस्तकाध्ययन के लिए भी अवसर मिल जाता था और कभी-कभी 'वाहन कुल की परम गुरु' मोटरकार की सवारी में आरूढ़ हो इधर-उधर आम-जामन भी खा आता था। किन्तु जब श्रीमान् महाराजा साहब के व्यङ्ग्य-बाणों का सामना करना पड़ता तब सारा नशा हिरन हो जाता। फिर भी जब महीने की पहली तारीख को ठन-ठनाते हुए वर्तुलाकार रजत-खण्डों के रूप में लक्ष्मीदेवी का आगमन होता था तो चेहरे पर मुस्कराहट की रेखा आये बिना नहीं रहती।

यद्यपि स्वर्गीय महाराजा साहब उदारतापूर्वक अपने नौकरों को अपना उपकारक समझ उनके अहसानमन्द रहते थे तथापि कभी-कभी स्वाभिमान को आघात पहुँच ही जाता था। लेकिन

तुरन्त आहत स्वाभिमान पर मधुर-हास्य का उपचार कर दिया जाता। नौकर सदा अपराधी होता है। मौन रहने पर मूक और बोलने पर वाचाल कहा जाता है। मेरे लिए ऐसी बात तो न थी, बोलने की पूर्ण नहीं तो अर्धपूर्ण स्वतन्त्रता का अवश्य ही अधिकारी था किन्तु जब कोई विकट समस्या उपस्थित होती और निकास का मार्ग दिखाई न देता तब छटी का दूध याद आ जाता। ऐसे भी अवसर आये जब 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा' का सा युधिष्ठरी सत्य का प्रयोग करना पड़ा, अपनी रक्षा के लिए दूसरों को आपत्ति में डालने के लिए नहीं। दूसरों को हानि पहुँचाने की शक्ति पर मैंने कभी गर्व नहीं किया।

तबेले के बन्दर की भांति दूसरों की अलाय-बलाय भी मेरे ही सर पड़ती थी। उसके लिए मेरा सर मजबूत हो गया था। 'जो आज्ञा' शब्द जिसकी जिह्वा पर सदा नृत्य करे, जो स्वामि-कार्य को सम्पादन करने में आलस्य न करे, जो अपने दोषों की स्वीकृति में उदार से भी कुछ अधिक हो, जो मानापमान के द्वन्द्वों से परे हो, जो विद्यार्थियों की भांति श्वान-निद्रा और बकोध्यानी रह कर गृहत्यागी भी हो, जो स्वामी के हित के लिए अपने हित को तिलाञ्जलि दे सके, जो मार खाने पर भी रोये नहीं, ऐसे नव-गुणों से सम्पन्न महापुरुष ही नौकरी का अधिकारी हो सकता है। नौ बातों को पूरा करने पर 'नौकरी' नाम सार्थक होती है।

महाराजा साहब की उदारता के कारण मुझमें इन नौ गुणों का पूरा विकास नहीं हुआ। बेईमानी का आसरा लिये बिना भी 'जल बिन्दु निपातेन क्रमशः पूर्यते घटः' के न्याय से मेरे पास धन इकट्ठा होने लगा और मैं शीघ्र ही खलों की भाँति बौरा उठा। कृषि गोरक्षा वाणिज्य का वैश्यधर्म सम्बन्धी गीतोपदिष्ट वाक्य का स्मरण कर कभी तो खेती की सोचता और कभी वाणिज्य की। गौ रक्षा नहीं तो दूध-घी की खातिर भैंस-रक्षा

पहले से ही करने लगा था। दोनों कार्यों के करने में मुझे सहायकों की कमी न थी।

खेती में तो मेरा कलम घसीटने का भार हलका करने वाले मेरे क्लर्क महोदय मास्टर घसीटेरामजी मेरे सहायक ही नहीं साझी भी बन गये। बात असली यह थी कि मैं उनका साझी बना। एक खेत स्वतन्त्र रूप से भी किया। उसमें पोटाशियम नाइट्रेट और सनई के हरे खाद से लगा कर गोबर-कूरे का भी खाद दिया। पूसा नम्बर चार और बारह के गेहूँ बीज के लिए मँगवाये। 'कर्महीन खेती करे, बर्द मरे कि सूखा परे', हुई तो दोनों ही बातें किन्तु कुए की खेती होने के कारण वह नितान्त आकाशी न थी। उसमें अधिक उपयोगिता नहीं तो कला अवश्य थी। मूली के सफेद फूल सरसों के पीले फूलों के साथ मिल कर एक नयनाभिराम दृश्य उपस्थित कर देते थे। कविवर निरालाजी तो उसे देख कर इतने प्रसन्न हुए कि उसको आतिशवाजी कहने लगे। ब्राह्मणों के वचनों में सत्यता रहती ही है। वह दरअसल धन की आतिशबाजी थी।

मेरे पिताजी ने एक बार मुझसे पूछा कि बेटा नौकरी में कुछ रुपया जमा किया है? मैंने कहा—'हाँ, वह खेत में जमा है।' फिर भी मेरी खेती नितान्त निष्फल नहीं थी। अपनी स्वतन्त्र खेती से तो नहीं किन्तु साझी की खेती से प्रायः साल भर के खाने के लिए गेहूँ और घोड़े के दाने के लिए चने मिल जाते थे। मुझे और क्या चाहिए था? यह कभी हिसाब नहीं लगाया कि जितना रुपया लगा उतना पूरा भर पाया था या नहीं? इसको राम जाने। हिसाब के लिए दिमाग खराब करने को फुर्सत किसे थी?

व्यापार का मुझे कुछ अधिक विस्तृत अनुभव है। खेती में रुपया न खराब कर मैं रुपया घर भेजने लगा। वह रुपया एक समीपवर्ती अन्न और कपड़े के व्यवसायी के यहाँ आठ आना

सैकड़े के व्याज पर जमा होना शुरू हुआ। व्याज में अन्न, वस्त्र और घी सभी कुछ मिलने लगा। घर के लोग प्रसन्न थे, बाजार जाने की झंझट से बचे, और रुपया भी न देना पड़ा। एक या दो वर्ष बाद ही मेरे सेठजो को दस पन्द्रह हजार का टोटा आया उसमें वे मेरे भी चार हजार ले बैठे। व्याज के लोभ में मूल भी गया।

साल दो साल बाद फिर कुछ रुपया इकट्ठा हुआ। मेरे एक मित्र ने अरहर की एक खत्ती प्रत्यक्ष रूप से भरने की सलाह दी। खत्तियाँ गो-दान की भाँति प्रत्यक्ष रूप से भी भरी जाती हैं और केवल आंशिक निष्क्रय दे कर अप्रत्यक्ष रूप से भी। मेरे मित्र ने कहा था कि अरहर कभी-कभी चिरोंजी के भाव बिकने लगती है। मैं इसी आशा में रहा कि ऊने के दूने होंगे किन्तु सहसा उनकी चिट्ठी आई कि अरहर का बहुत मद्दा भाव हो गया है, वे उसे बेचे डालते हैं। अधिक रोकने से घुन लगने की सम्भावना थी। चिरोंजी के लालच में २२००) रुपयों में ८००) का नुकसान उठाया। मेरे मित्र सज्जन थे, उन्होंने पीछे से और किसी काम में इस नुकसान की पूर्ति कर दी।

मैंने तीन चार बार शेयर भी खरीदे किन्तु जिस कम्पनी में मैंने भाग लिया उस कम्पनी का भाग्य फूटा और साथ ही मेरा भी। रिजर्व बैंक के शेयरों का भाव गिरने पर मैंने उनको बेच डाला किन्तु जब से मैंने उनको बेचा है तब से उनका भी भाव बढ़ गया। 'भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषं।'

लोग बीमा कराना कम जोखिम का काम समझते हैं। जोखिम कम्पनी का अधिक रहता है। किन्तु दो एक कम्पनियों में तो पौलिसी लैप्स हो गई और जिसमें चलती रही वह लिक्वीडेशन में आ गयी।

मैंने रूई और सोने में भी अपनी भाग्य-परीक्षा की। रूई

पाँच आने की गाय की भाँति अप्रत्यक्ष रूप से भरी थी। उसका भाव-ताव समझने लगा था किन्तु उसमें एक साथ अढाई सौ रुपये की हानि हुई। मुर्गी के लिए तकुए का घाव भी बहुत होता है। मैंने कान पकड़ कर तोबा की, शपथ खाई और बड़े धार्मिक भाव से संकल्प किया 'अबलौं नसानी अब ना नसैहौं'। किन्तु लालच बुरी बलाय है। मन अपना हठ नहीं छोड़ता, 'मेरो मन हरिजू हठ न तजै।' बस यही हाल मेरे मनका था।

सोना जब बाइस रुपये तोले हुआ तो पचास तोला सोना खरीदने की सूझी। बिना किसी जान पहचान के ही शेयर मार्केट के भाव की गश्ती चिट्ठी भेजने वाली बम्बई की एक फर्म को रुपया भेज दिया। माल न आने पर दुकानदार से तकाजा किया तो उसने कहा एक बार बेचकर दुबारा आपके लिए खरीद लिया इसमें आपको पचास का फायदा हो गया, एक बार फिर ऐसा करूँगा। मैं प्रलोभन में आ गया किन्तु जब तीन महीने तक स्वर्ण के दर्शन नहीं हुए तब एक आदमी को बम्बई भेजा, वह बिचारे बड़ी मुश्किल से उसको लाये। दूसरी बदली में दुकानदार ने नुकसान दिखा दिया। फिर भी परमात्मा का शुक्र मनाया। किन्तु बकरे की मां कब तक खैर मनाती? जो वस्तु भाग्य में नहीं होती वह ठहर नहीं सकती। कानपुर में वह सोना चोर के हाथ लगा और उसके बाद भाव भी ऊँचा चढ़ गया। मैं हाथ मलता रह गया।

फिर भी हिम्मत नहीं हारी। एक बार आगरे में ही प्रत्यक्ष रूप से चाँदी खरीदने का विचार किया, दलाल लोग शहद की मक्खियों की तरह चिपट गये। मेरे और मेरे सम्बन्धी की, जो मेरे साथ थे, मठेकी रस्सी की भाँति खींचा-तानी होने लगी। मेरे सम्बन्धी पूरे बनिए थे, उनको भाव-ताव करने में मजा आता था और मुझे झूंझल। रुपया अधिक न होने से आधी सिल मेरे

उन्हीं सम्बन्धी ने ली। सिल कटवाने दूसरी किसी गली में जाना था। सिल के बोझ से आदमी भागता जाता था उसके पीछे हम भी जैसे चोर का पीछा कर रहे हों हांपते-हांपते घुड़दौड़ करते थे। जैसे-तैसे लुहार के यहाँ पहुँचे, वहां पन्द्रह बीस सिल रक्खी थीं उन दिनों हरएक को चाँदी खरीदने का भूत सवार था। नम्बर आने के लिए शेविङ्ग सेलून के उम्मीदवार की भाँति बहुत देर तक इन्तजार करना पड़ा। शेविङ्ग सेलून में तो कुर्सी मिल जाती है, कभी-कभी अखबार भी किन्तु इसमें अपनी टाँगों के बल खड़े होने standing on ones legs की शिक्षा थी? उसके बाद तुलवाने की समस्या आई। फिर मजदूर के पीछे भागे। तुल जाने पर मेरे सम्बन्धी अपने गाँव चले गये और मैंने एक डलिया वाले मजदूर की डलिया में उसे रख कर घर की राह ली। दुकानदार ने मेरी खैरख्वाही दिखाते हुए मजदूर की नीयत साबित रखने के लिए उसे सीसे की सिल का टुकड़ा बतला दिया। मैंने रास्ते में उसे तरकारी-भाजी से आच्छादित कर दिया। मुझे डर था कि कहीं सत्यनारायण कथा की नौका की भाँति उसमें लता-पता ही न रह जाय, इसलिए उसके पीछे भागना पड़ा। जैसे-तैसे राम-राम करते घर आया। तब दम में दम आई। खैर इतनी मेहनत करने पर नुकसान नहीं हुआ। उसमें साठ या सत्तर रुपये का लाभ हो गया। आप मरे ही स्वर्ग दीखता है। कभी-कभी मर कर भी नरक भोगना पड़ता है।

इस करुण कहानी को पढ़ कर कोई महाशय व्यवसाय से उदासीन न हो जायँ। वैसे तो 'हानि-लाभ, जीवन-मरण यश अपयश विधि हाथ' है, फिर भी इस हानि में मेरी अनुभव-शून्यता बहुत-कुछ उत्तरदायी है। बात यह है कि हम लोग बिजनेस में बिना विशेष शिक्षा लिये ही कूद पड़ते हैं और समझने लगते हैं कि जिस प्रकार मछली को पानी में तैरने का जन्म-सिद्ध अधिकार

है वैसा ही व्यापार में वैश्यों का। यद्यपि जातिका थोड़ा बहुत असर होता है तथापि सफलता के लिए शिक्षा अनिवार्य है। जिस प्रकार बिना शिक्षा के डाक्टरी करना खतरनाक है उसी प्रकार बिना शिक्षा के व्यापार।

अब तो मैं धक्के खाकर होशियार हो गया हूँ। अब गाँठ में कुछ न रहने पर यह बात गाँठ बाँधली है कि 'आधी छोड़ एक को धावे आधी रहे न, सारी पावे'। परमात्मा करे वह आधी सलामत रहे।

खट्टे अंगूर

(मेरा जीवन-बीमा)

लोगों का कथन है कि दो अत्यन्त प्रतिकूल बातें अन्त में आकर मिल जाती हैं। यह युग जितना ही क्रियाशील है उतनी ही इसमें बेकारी बढ़ी हुई है। जिस प्रकार दीपक से कज्जल उत्पन्न होता है उसी प्रकार अत्यन्त क्रिया निष्क्रियता की उत्पादक बन रही है। बेकारी का प्रश्न तो कविकुल-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी के समय से चला आता मालूम होता है, क्योंकि उन्होंने कहा है कि—

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख,
बलि बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी ॥
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सौं कहां जाइ, का करी ॥"

तब तो राम भजन से समय कट जाता था और बेकारी नहीं अखरती थी। बेकारी को मानते हुए गोस्वामीजी ने दो काम भी बता दिये थे। "खाने को टुकड़ा भलो, लेने को हरिनाम" लेकिन अब तो टुकड़े में भी हानि आगई है और रामजी का नाम कुटिल कलि-काल के कुचक्र से अन्य सद्धर्मों की भांति लुप्त-

प्राय: हो गया है। अब श्री गोस्वामीजी ने अपने कथन में स्वयम् ही निम्नलिखित संशोधन स्वर्ग से वाइरलेस द्वारा भेजा है—"खाने को धक्का भलो, लैने को बिसराम" महात्मा तुलसीदासजी के इस नैराश्य को देख कर एक मनचले महाशय ने उसमें यह अन्तिम संशोधन कर दिया है—

तुलसी या संसार में, कर लीजे दो काम।
इक चुङ्गी की मेम्बरी, अरु बीमा को काम।

वास्तव में बीमा के काम ने इस युग में बहुत से लोगों को जाब्ता फौजदारी की १०७, १०८, १०९ या ११० दफा के चंगुल में आने से बचा दिया है। यद्यपि यह संदेह है कि बीमा के काम से निश्चित रूप से रोटियाँ मिलती हैं या जेल की चहार दीवारी के भीतर? रोटियां चाहे मिलें या न मिलें बिना किसी योग्यता के लोग 'एजेन्ट' की पदवी से विभूषित हो जाते हैं। आजकल सेवा-धर्म बढ़ जाने से अथवा यों कहिए कि डाक्टरों की संख्या में बढ़ती के कारण साधारण लोगों में फीस देना ऐसा ही बन्द हो गया है जैसा कि दान-धर्म। किन्तु बीमा कम्पनियों की बदौलत डाक्टरों को पूरी-पूरी फीस के दर्शन हो जाते हैं। अखबार वाले भी कुछ थोड़े से बीमा सम्बन्धी विज्ञापन प्राप्त कर बीमा कम्पनियों की खैर मनाते हैं।

बीमा कम्पनी की एजेन्सी मिल जाना कठिन बात नहीं किन्तु पालिसी खरीदने वाले आदमी मिलना इतना सहज नहीं है। जमींदार लोग तो पुश्त-दर-पुश्त के लिए निश्चिन्त है (यदि यह मद्देपन का महारोग उनको काल-कवलित न कर ले)। और बौहरे लोगों को बिचारे काश्तकार सलामत चाहिए, उनकी दिन-दूनी रात चौगुनी ब्याज पक्की है। फिर वे बीमा जैसी संदिग्ध संस्था की क्यों परवा करें? अब रह गये बिचारे नौकरी-पेशा और बेकार लोग। नौकरी-पेशा अवश्य कभी-कभी बीमा वालों के

चक्कर में आ जाते हैं। जहाँ उनसे कहा गया कि देखिए कम्पनी कितनी जोखम (रिस्क) लेती है और जहाँ उनके सामने आजकल की नई-नई बीमारियों के भयंकर चित्र अंकित किये अथवा भूचालों और रेल-दुर्घटनाओं की करुण-कथा सुनाई वहाँ उनके हृदय में बीमा कम्पनी के लिए कुछ स्थान हो गया। और जब उनको बतलाया गया कि वैसे तो आप कुछ नहीं बचा पाते किन्तु इसके कारण आप अनिवार्य रूप से मितव्ययता (Compulsory economy) कर सकेंगे, वहीं उन पर जादू का पूरा असर कर जाना है। किन्तु वे लोग समयाभाव के कारण सहज में हाथ नहीं आते। उनके पीछे जब कोई हाथ धोकर सत्तू बाँध कर पड़ जाय तब कहीं उनसे साक्षात्कार हो पाता है। और यदि वे फैशन-भक्त हुए तो उनके ऊपर अनिवार्य मितव्ययता का ऐसा ही असर नहीं होता जैसा कि सती के हृदय पर कामी पुरुषों के वचनों का।

बेकार लोगों में दो श्रेणियाँ हैं—प्रथम श्रेणी में तो वे शुद्ध निर्लेप बेकार हैं जिनको न काम से काम है और न दाम का नाम ही सुनाई पड़ता है। दूसरी में वे लोग हैं जिनके पास कुछ काम तो नहीं है किन्तु जीवन के पहले भाग में किये हुए सत्कर्मों के फलस्वरूप मास-प्रति-मास कुछ कलदार आ जाते हैं। ये लोग बेकारी के पवित्र नाम को बदनाम करते हैं। पहले प्रकार के लोगों के पास जाने का तो बीमा कम्पनी वालों को साहस कहाँ? क्योंकि उनमें से प्रत्येक बीमा कम्पनी के एजंट बनने की प्रबल सम्भावना रखता है। एक पेशे के लोग कभी प्रेम से नहीं रह सकते 'याचको याचकं दृष्ट्वा श्वानवत गुरगुरायते'। दूसरे प्रकार के लोगों के पास जाने का वे थोड़ा-बहुत साहस करते हैं। किन्तु उनकी पचपन साला आयु देख उनसे इतने ही शङ्कित हो जाते हैं जितना कि काले कपड़े से एक ग्रामीण बैल। किसी न किसी क्षेत्र में

श्वेत केश वालों को केशव की भाँति पछतावा ही करना पड़ता है। वे लोग तो शायद अपनी जान का सौदा करने को सहज में तैयार हो जायँ किन्तु एजेंट लोग उस सौदे को सहज में नहीं स्वीकार करते। बीमा कम्पनियों के सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश मैं एक ऐसा जन्तु था जो पेंशनयाफ्ता होता हुआ भी ५० साल से कम आयु का था।

जहाँ अड़ोस-पड़ोस के लोगों को मेरी परिस्थिति मालूम हुई वहाँ एजेन्टों ने मेरा पीछा करना शुरू किया। मेरे पास कोई ऐसा दुर्ग न था कि जहाँ जाकर छिप जाता। बीमे के प्रस्ताव होने लगे, सोते-जागते, उठते-बैठते, टहलते दिन-रात बीमा की चर्चा होने लगी। दो एक एजेन्ट तो आपस में वाक् युद्ध भी करने लग जाते थे। बीमे के प्रस्तावों के कारण मेरी नींद हराम हो गई। जान का बीमा क्या था जी का जंजाल हो गया। औरों से तो जैसे-तैसे पीछा छुड़ा पाया किन्तु एक महाशयजी मेरे पड़ोस में रहते थे, उनसे पीछा न छुड़ा सका। इत्तफाक से वे ब्राह्मण भी थे। फिर क्या था? मैं गिरधरजी के शासन में आ गया—विप्र और पड़ोसी को तरह देना ही पड़ती है।

मैंने उनसे पूछा—"आप काहे का बीमा करना चाहते हैं?" उत्तर मिला 'जान का'। मैंने कहा कि भाई मैं अपनी जान कहीं पारसल करके नहीं भेजना चाहता जो बीमा कराऊँ। मुझसे कहा गया कि बीमा करा कर आप भविष्य के लिए निश्चिंत हो जायँगे। मैं भली प्रकार जानता था कि चिता और चिन्ता में एक बिन्दी का ही अन्तर है और चिता में जलने के लिए कुछ अभ्यास भी चाहिए था। इसलिए चिन्ता को जो मेरे जीवन की चिर-सङ्गिनी थी सहज में परित्याग नहीं करना चाहता था, लेकिन 'अर्थी दोषं न पश्यति'। एजेन्ट महोदयों पर मेरी युक्ति का इतना भी असर नहीं हुआ जितना कि तवे पर बूंद का।

बाबा तुलसीदासजी के शब्दों को लौट-फेर सकूँ तो कहदूँ बुन्द अघात सहें गिरि जैसे। उन्होंने मेरी सम्मति—ठीक तो यों है कि मौन रूपी अर्ध सम्मति प्राप्त करली। मेरे सामने फार्म रख दिया गया और मैंने ५०००) के लिए आँख बन्द करके दस्तखत कर दिए। ५०००) से कम का बीमा कराना मैं अपनी शान के खिलाफ समझता था क्योंकि अगर कभी इज्जत-हतक का मामला चलाना हुआ तो ५०००) से अधिक का दावा कर सकूंगा। इज्जत-जान से ज्यादह मूल्य रखती है। दस्तखत तो सहज में हो गए किन्तु जिस प्रकार विवाह कर लेना आपत्तियों का आरम्भ है, उसी प्रकार दस्तखत कर देना भी आपत्तियों को मोल लेना था। दस्तखत के पश्चात ही मुझसे पूछा गया कि आपकी जन्मपत्री कहाँ है। मैंने कहा—क्या आप पाराशरी अथवा वृहज्जातक के अनुकूल मेरी आयु का निर्णय कराना चाहते हैं ? उन्हों कहा—भविष्य की नहीं वरन् वर्तमान की। मैं तो यह समझता था कि जिस प्रकार उस बीमा के व्यवसाय ने एजेन्टों, डाक्टरों और अखबारों को रोजगार दिया है उसी प्रकार शायद बीमा कम्पनियां ज्योतिषियों को भी आजीविका देंगी। आज कल इङ्गरेजी पढ़ जाने के कारण लोग ज्योतिषियों से कम काम लेते हैं। जब सनातन धर्मी लोग इस ओर ध्यान देंगे और शुद्ध सनातन धर्मियों की बीमा कम्पनी बनेगी तब डाक्टरों की अपेक्षा ज्योतिषियों की परीक्षा को अधिक महत्व दिया जायगा किन्तु अभी तो डाक्टरों की ही चलती है।

यदि बीमा कम्पनियों को ज्योतिष में विश्वास होता तो मैं डाक्टरी परीक्षा से बच जाता। किन्तु वृथा प्रलाप मे क्या लाभ ? मेरी नाप-तोल की गई, मानो मैं कोई क्रय-विक्रय की वस्तु था। मुझे तक पर बैठाया गया। यदि तुला कराई गई होती तो बेचारे ब्राह्मणों का भला होता। मालूम नहीं तुला पर बैठ कर मुझे

तुलादान का फल मिलेगा या नहीं ? मेरी छाती कमर पैर सबका नाप हुआ। जब दर्जी नापता है तब तो यह सन्तोष रहता है कि नया सूट पहिनने को मिलेगा, किन्तु यहाँ क्या रक्खा था ? बीमार की भाँति पलंग पर लेटना पड़ा। वैसे तो मेरा शरीर रोगों का अड्डा बना हुआ था क्योंकि आज कल 'भोगेनान्तेतनुः-त्यजाम्' के स्थान में 'रोगेनान्तेतनुःत्याजम्' का पाठ हो गया है। किन्तु मैं बहुत से रोगों के बारे में डॉक्टर की आँख में धूल झोंकने में सफल हुआ। एक लम्बी-चौड़ी प्रश्नावली का उत्तर देना पड़ा। यदि सब बातों का बिलकुल सच्चा-सच्चा उत्तर दिया जाय तो स्वयं भगवान धन्वन्तरि भी डाक्टरी की परीक्षा में फेल हो जायँ। मैंने अदालत के सत्य मूर्ति गवाह की भांति सच और बिलकुल सच के सिवाय और सब कुछ कहा। लेकिन बकरे की मां कब तक खैर मना सकती है, मेरे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग ने मेरे विपरीत गवाही दी।

जब मकनपुर या बटेश्वर की हाट में खरीदे जाने वाले बैल या बछड़े की भाँति मेरे दाँत देखे गये तो टूटे हुए दाँत को न छिपा सका। मैं तो इस बात में महात्मा गांधी से समानता कर के मन खुश कर लेता था। शुष्क हृदय डाक्टर लोग इसे वार्द्धक्य का चिन्ह समझते हैं। और स्थान में वृद्ध लोगों का आदर होता है, किन्तु कलियुगी बीमा कम्पनी वाले वयोवृद्ध लोगों का आदर नहीं करते। डाक्टर विचारे को भी मेरा केस पहला ही मिला था। वे सत्य वक्ता होने की धाक जमाना चाहते थे।

मैंने दाँत के सम्बन्ध में युधिष्ठिरी सत्य भी बोला लेकिन उन्हों ने एक न मानी। उन्हें क्या था उन्हें तो फीस से काम, 'मुर्दा चाहे इस घाट जाय चाहे उस घाट जाय बन्दे को कफन से काम।' हाँ विचारे एजेन्ट महोदय मेरी परीक्षा की सफलता के लिए उतने ही उत्सुक थे जितना कि मैट्रिक का परीक्षार्थी अपने

शुभ फल के लिए। यदि मेरा बीमा हो जाता तो शायद मेरे बच्चों को तो मरने के पश्चात ही धन प्राप्त होता किन्तु एजेन्ट महोदय का कमीशन पक्का था। ५०००) का बीमा हो जाने से उनकी कम्पनी में उनका कुछ आदर भी होने लगता। डाक्टर ने मेरे सामने बहुत चिकनी-चुपड़ी बातें कहीं और मुझे विश्वास हो गया कि शायद मेरा प्रस्ताव स्वीकृत हो जायगा। मैं निर्भय जीवन व्यतीत करने का स्वप्न देखने लगा एवेरस्ट की चोटी पर जाने तक के मन्सूबे बांधने लगा। हिन्दू मुसलिम दंगों में शामिल होकर नेता बनने की भी आशा करने लगा। किन्तु, मन चीते क्या होता है प्रभु का चीता होता है। थोड़े ही दिन पश्चात् बड़ा शिष्टाचार पूर्ण पत्र मिला कि यद्यपि हम इस बात के आपके आभारी हैं कि आपने हमारे यहाँ बीमा कराने का निश्चय किया था तथापि हमें खेद है कि आपका प्रस्ताव स्वीकार नहीं कर सकते। पहले तो कुछ आघात-सा लगा लेकिन फिर मन समझा लिया कि आँख फूटी पीर गई। बार-बार त्रैमासिक रुपया भेजने के भार से बचा, बच्चों के लिए तो निश्चित हो जाता किन्तु प्रीमियम भेजने की चिन्ता तो मुझे शीघ्र ही मृत्यु के निकट पहुँचा देती।

फिर मैंने अपना निश्चय बदल दिया कि न मैं अब विज्ञान के लिए अपना बलिदान करूँगा, न धर्म के लिए और न देश और जाति के लिए। सुख की नींद सोकर अपना जीवन व्यतीत करूँगा। बस मैंने सोच लिया कि नाखून और सर के बाल कटा कर आत्म-बलिदान का आत्म-तोष प्राप्त कर लिया करूँगा। सर न सही तो सर के बाल ही सही। बीमा कम्पनी वाले शायद इस सिद्धान्त को नहीं जानते कि रोगी लोग ही चिरजीवी होते हैं क्योंकि उनको रोग के कारण अपना जीवन नियमित रखना पड़ता है। मुझे आशा है कि भले स्कूल के लड़के की भाँति अपना जीवन नियमित रख कर जान-बूझ कर आग में न कूदूंगा और

हनूमान बाबा, अश्वत्थामा, लोमश ऋषि, भगवान भुवन भास्कर सूर्य देव और भूत भावन मृत्युञ्जय महादेव कृपा करके मुझे दीर्घ जीवी बना देंगे। रहा बाल-बच्चों का प्रश्न उसके लिए मैंने सन्तोष कर लिया है कि 'पूत सपूत तो क्यों धन सञ्चय, पूत कपूत तो क्यों धन सञ्चय'। जीवन-बीमा के अंगूर मुझे अब खट्टे प्रतीत होते हैं।*

---

* एक बार फिर बीमा वालों की बातों की फेर में पड़ कर जान का बीमा करा बैठा। एजेन्ट साहब एक रोज मुझे अपनी मोटर में हवा खाने लिवा गये। हवा में मेरा बीमा न कराने का संकल्प हवा हो गया। डाक्टर ने भी सरसरी जाँच की, क्योंकि वे काम में अधिक व्यस्त रहते थे। मैं जाँच में पास हो गया, बड़ी प्रसन्नता हुई। किन्तु दुर्भाग्य से वह कम्पनी Liquidation में आगई। प्रीमियम देने से छुट्टी मिली। अब मैं निश्चिन्त हूँ।

श्रीरामजी-प्रीत्यर्थ

(मेरे जीवन की अव्यवस्था)

विश्व-व्यापकता का यदि कुछ महत्व है, तो मूर्ख-सम्प्रदाय के आगे दुनिया में कोई सम्प्रदाय नहीं ठहर सकता। संसार में कोई ऐसा व्यक्ति, दल या समुदाय नहीं, जो किसी-न-किसी द्वारा मूर्ख न समझा गया हो। इस पद के लिए न किसी को सलाम झुकाने की आवश्यकता है, और न अखबारों में अपने कारनामों का ढिंढोरा पीटा जाता। इसके लिए चातक-दृष्टि लगा कर ऑनर्स-लिस्ट की भी बाट नहीं जोहना पड़ती। इसके लिए यह कहने की भी आवश्यकता नहीं कि "गुन ना हिरानो, गुन गाहक हिरानो है।'

इस परम पुनीत, आदितम संप्रदाय के काशी और प्रयाग की भाँति शिकारपुर और भौगाँव दो तीर्थ-स्थान हैं। इनमें प्रधानता किसकी है ?—इस महत्व-पूर्ण प्रश्न का निर्णय करने में "कवयोऽप्यत्र मोहिताः" फिर 'अस्मदादिकानां का वार्ता ?'

यद्यपि भौगाँव से मेरा सर-सरसिज, राका-शशि या वलय और मणि का-सा कोई सहज सम्बन्ध नहीं, तथापि मेरे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर-स्वरूप परम दैववत् गुरुदेव (पण्डित

गिरिजाशंकर मिश्र), जिनके चरणांबुजों का चंचरीक बन कर मैंने विद्याओं की विद्या देववाणी (संस्कृत) का अध्ययन किया था, इसी पुण्य क्षेत्र के निवासी थे। उन्हीं की कृपा का बल प्राप्त कर मैंने फ़ारसी छोड़ कर नाइन्थ क्लास में संस्कृत ली थी, और जिस प्रकार नया मुसलमान अल्ला-ही-अल्ला पुकारता है, मैं भी बात-बात में संस्कृत बघारने लग जाता था। यद्यपि मिथ्या पांडित्य-प्रदर्शन की यह आदत अच्छी नहीं, तथापि नीलकण्ठ भगवान् शङ्कर के कण्ठस्थ विष की भाँति मैंने इसे छोड़ा नहीं। "अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।" खद्दर पर सिलमे-सितारे के काम की भाँति समय-कुसमय में अपने लेखों में संस्कृत के अवतरणों का पुट देकर एक साथ अपनी विद्या और अविद्या का परिचय देता हूँ, क्योंकि उनमें प्रायः गलतियाँ रह जाती हैं, और इस प्रकार तम और प्रकाश का संबंध, जिसे वेदान्तांबुज-सूर्य श्री शंकराचार्य ने असम्भव माना है*, संभव हो जाता है।

यह कुछ विषयान्तर-सा हो गया, किंतु इस मूर्खता के लेखमें संगति की खोज करना असंगति है और युक्तिमत्ता की आशा करना मूर्खता ("गरल सराहिय मीचु")। अस्तु। महर्षि देवेन्द्रनाथ की जीवनी में मैंने पढ़ा था कि उनकी तारीफ़ में इससे अधिक अच्छी बात क्या हो सकती है कि वे विश्वकवि रवि बाबू के पूज्य पितृ-देव हैं। कुछ-कुछ ऐसा ही सबंधं भौगाँव का मैनपुरी से है, जहाँ मैंने अपने जीवन की अरुणोदय-सी स्वर्णिम बाल्य-वेला बिताई थी। भौगाँव मैनपुरी के ही जिले में है।

---

*युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमः प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः। (शा० भा० भूमिका)

'सियाराममय सब जग जानी' वाले विश्व-मैत्री के नाते से कुछ अधिक घनिष्टतर और राज्य की नौकरी से च्युत होने के कारण मेरे समान धर्मी मित्र, जो एक बड़े मासिक पत्र के संपादक हैं, मुझ से प्रायः यह पूछकर कि मैं मैनपुरी में कितने दिन रहा, बड़े गर्व और आत्म-सन्तोष के साथ अपने हास्य-विनोद-प्रेम का परिचय दे देते हैं। उनका घर भी मैनपुरी-जिले में है और शायद सुसराल भी। उन्हीं के प्रीत्यर्थ मैं यह लेख लिख रहा हूँ।

यद्यपि मैं अपने शिकारपुरी मित्र की, जिनका मैं विशेष परिचय दूँगा, प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता, कहाँ राजा भोज और गङ्गा तेली ? तथापि मेरे जीवन में अव्यवस्था, अव्यवहारिकता, अदूरदर्शिता, अज्ञान और भुलक्कड़पन की मात्रा पर्याप्त रही है।

अव्यस्था ही मेरे जीवन की व्यवस्था है। आदर्शवाद से मैं कोसों दूर रहा हूँ ; और मैं समझता हूँ, जीवन में जो कुछ कर सका हूँ, इसी कारण कर सका हूँ। 'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः' मेरे जीवन का मूल मन्त्र रहा है। एक आदर्शवादी राज्य में मैंने कुछ दिन काम किया था मेरे चार्ज में एक स्कूल भी था। उसके छात्रावास के लड़कों के पलङ्गों की चादरों के सम्बन्ध में मैंने रिपोर्ट की। उसी के साथ मेरे आक़ाए-नियामत ने उनकी सारी पोशाक का प्रश्न उठाया। वे स्वदेश-भक्त थे, फिर भी रेंकिन और एम्किथ एन्ड लॉर्ड तक के यहाँ से कोटेशन मँगवाये गये। लाल इमली, धारीवाल और बाँबे बुलेन मिल्स और न-जाने कहाँ-कहाँ से नमूनों और टेंडरों का आवाहन हुआ। जूतों की कीमत जानने के लिए आगरे और कानपुर को कागज़ के घोड़े नहीं, बिजली तक के घोड़े दौड़ाये गये। लड़के भी यह स्वप्न देखने लगे कि हम राजा साहब की सारूप्यता प्राप्त कर लेंगे; सालोक्यता और सामीप्यता तो उन्हें प्राप्त थी ही। लेकिन उनका स्वप्न रात्रि के पूर्वार्ध का स्वप्न निकला (ऐसा विश्वास है कि जो स्वप्न रात्रि

के पूर्वार्ध में देखे जाते हैं, वे चरितार्थ नहीं होते) मेरी स्थिति के सात मास बीत गये, फिर भी बेचारे विद्यार्थियों के पलंगों की चादरें वैसी ही रहीं। उसके छः महीने बाद भी मुझे स्वयं राजा साहब के एक पत्र से ज्ञात हुआ कि आश्रम के लड़कों के पैरों को तब तक जूते भी नहीं मिले थे। ऐसे आदर्शवाद के मैंने सदा हाथ जोड़े हैं, और उसी के साथ आदर्शवादियों के भी। उस रियासत से मुझे शीघ्र ही पतंग कटानी पड़ी। एक फाइल का स्वयं पता दे देने के कारण मेरा तनज्जुल हुआ, होम करते हाथ जला। मैंने त्याग-पत्र दिया, उसकी स्वीकृति स्थगित रही। इतने में होली का पर्व आया। देव-मन्दिर में होली धूम-धाम से मनाई गई। रङ्गरेजी और रङ्गरेली (शाब्दिक अर्थ में) हुई। मन्दिर के भीतर-बाहर रङ्गीन जल का साम्राज्य हो गया। दूसरे रोज भक्त-रूप से राजा साहब को देव दर्शनार्थ पधारना था। मन्दिर का रङ्ग धुलवाने और जल के सोखने का प्रबन्ध मेरे जिम्मे था। वरुणदेव की मेरे ऊपर बड़ी कृपा है। एक साल मेरे मकान पर आक्रमण किया था, उस साल मेरी रोजी पर। मन्दिर के भीतर का जल सूख गया था। बाहर एक जगह से वह नितान्त निःशेष न हो सका। मैं अगस्त्य मुनि का अवतार न था। निःशेष न होने का कारण यह था कि वहाँ कोई मोरी न थी। राजा साहब के चरणांबुजों को आर्द्र करने के लिए जल पर्याप्त से कुछ कम था, और काशी-विश्वनाथ के मन्दिर के रौप्य-राशि-जटित धरातलगत जल के सहस्रांश से शायद कुछ अधिक।

राजा साहब की भक्ति-भावना उनकी प्रबन्धप्रियता पर विजय न पा सकी। तुरन्त मेरी और किसी दूसरे कसूर पर फौज के अफसर की मुअत्तली का हुक्म निकल गया। फिर राजा साहब ने बड़ी भक्ति के साथ देव-दर्शन किया। दीनता से दण्डवत् हो गये। दूसरे अफसर साहब ने क्षमा-याचना कर ली।

मैंने राजा साहब को नम्रता-पूर्वक लिख दिया कि मैं आपके क
के लिए दुखी हूँ। कसूर की हाथ जोड़कर क्षमा माँगता हूँ, सज
की नहीं। मेरे इस्तीफे की स्वीकृति स्थगित न रखी जाय। तुर
चार्ज दे देने की आज्ञा मिल गई। मुझे मालूम हो गया कि
नौकरी का स्थायित्व वहाँ नलिनी-दल-गत-जल से भी अतिश
चपल था। मैं वहाँ अधिक ठहरा नहीं, अच्छा ही हुआ। 'बक
की मा कब तक खैर मनाती!' उन राजा साहब का मैंने नमक
पानी खाया है। उनकी बुराई नहीं करना चाहता। सच्चे
खिलाड़ी की भाँति वे मुझे क्षमा करेंगे।

मेरे मित्र मजकूर ने एक बार किसी से कहा था कि बाबूजी
ने अपने सब संस्मरण लिखे, उक्त रियासत से निकाले जाने क
नहीं लिखा। उनकी प्रसन्नता के लिए अपनी अव्यवहारिकता के
प्रमाण-स्वरूप इसे लिख दिया है। मेरे मित्र भी एक या दो
रियासतों के निकाले हुए हैं। इसीलिए मैं उनसे मित्र-भाव रखत
हूँ। समान शील व्यसनेषु मैत्री।

मैं अपना समय दार्शनिक चिन्ता में तो नहीं खोता, किन्तु
दार्शनिकों की-सी अव्यवस्था मेरे जीवन में अवश्य है। इसी
कारण कभी-कभी दार्शनिक होने का गौरव प्राप्त कर लेता हूँ। यद्यपि
मैं उन दार्शनिकों में तो नहीं हूँ, जो अपना ही नाम भूल जाते
हैं, अथवा छड़ी को चारपाई पर सुला कर आप रात भर कोने
में खड़े रहते हैं, किन्तु कमरे की सजावट और वस्तु-विन्यास में
कार्लाइल द्वारा वर्णित प्रोफेसर ट्यूफेल्सड्रोक से प्रतिस्पर्धा अवश्य
कर सकता हूँ। मेरे मित्र मिश्रबन्धुगण पर यदि निर्णय का भार
रक्खा जाय, तो वे मुझे दो या चार नम्बर कम देंगे, और किसी
आधुनिक प्रगतिशील आलोचक को यह काम सौंपा जाय, तो
वह मुझे कम-से-कम ५० नम्बर अधिक देगा। वह कहेगा, आप
इस युग में रहते हैं, वह प्रोफेसर दो सौ वर्ष पहले रहता था।

आपकी जाँच वर्तमान माप-दण्ड से होगी, इसलिए वह मुझे अव्यवस्था में १०० के स्थान में १५० मार्क देने की कृपा करेगा। रहन-सहन की अव्यवस्था में अगर मैंने किसी से हार मानी है तो श्री 'निराला' जी से। हाँ; कार्लाइल का वर्णन देखिए—

"It was a strange apartment; full of books and tattered papers, and miscellaneous shreds of all conceivable substances united in a common elemenst of dut. Books lay on tables and below tables ; here fluttered a sheet of manuscript, there a torn handkerchief. or night cap hastily thrown aside , ink bottle alternated with bread crusts, coffee pots, tobacco boxes, periodical literature, and Blucher-Boots."

इसका अनुवाद मैं नहीं करना चाहता, किन्तु अँगरेजी न जानने वालों के हितार्थ टूटा-फूटा अनुवाद दे रहा हूँ—

वह एक अजीब कमरा था। उसमें बिखरी हुई किताबों और फटे कागजों तथा कल्पना में आसकने वाली प्रायः सभी स्फुट वस्तुओं के टुकड़े धूल के एक ही मूल-तत्त्व से वेष्टित रहते थे। पुस्तकें मेजों पर और मेजों के नीचे भी पढ़ी रहती थीं। कहीं पुस्तकों की फटी हुई पाण्डुलिपियाँ फरफराती थीं, और कहीं फटा हुआ रूमाल और जल्दी से उतारी हुई नाइट कैप पड़ी रहती थी। स्याही की बोतलें रोटी के टुकड़े, काफी-पात्र, तंबाकूदान, मासिक पत्र और बूट विकल्प से दर्शक का ध्यान आकर्षित करते थे।"

बाल्यकाल में तो अव्यवस्था क्षम्य ही नहीं होती, वरन् कभी-कभी माता-पिता के आमोद का भी कारण बन जाती है, किन्तु कॉलेज-जीवन का विद्यार्थी रहन-सहन के लिए उत्तरदायी समझा जाता है। उस जीवन का भी मैं कोई संतोष जनक वर्णन नहीं दे सकता। बाल्य-काल की केवल एक घटना स्मरण है। मैं

अपनी ननसाल, जलाली जिला अलीगढ़, गया हुआ था। मेरी धोती नहीं मिल रही थी। मैं मैनपुरी की बोली में चारों ओर कहता फिरता था--"हमारी धुतिया किएँ गई ?" वहाँ के पश्चिमी लोगों ने मेरी अर्धपूर्बी बोली की बड़ी हँसी उड़ाई। उन लोगों ने मेरा नाम पुरबिया रख लिया था। मेरा पैत्रिक घर जलेसर में है। (वहाँ के रहने वालों का सर जला नहीं होता) वह भी कुछ-कुछ पश्चिमी भाग में है। वहाँ के मेरे एक विनोद-प्रिय चचा साहब ने मेरी बोली सुन कर कह ही डाला—"देशी गधा पूर्बी रहँक।" तब से मैंने मातृ-भाषा अर्थात् व्रजभाषा का, जो मेरी माता बोलती थीं, अभ्यास किया। वह स्कूल में गँवारू समझी जाती थी। इसलिए खड़ी बोली का अभ्यास किया, जो पैत्रिक बोली थी। भाषा के संबंध में एक बात और याद है कि मेरे किसी गुरुजन ने मुझे 'हम' कहने पर बहुत डाटा था। उन्होंने कहा था, इसमें विनय का अभाव है। वह बात मैंने गाँठ बाँध ली। मैंने तो 'हम' कहना छोड़ दिया है, किन्तु एक महाशय, जिन्हें 'हम' के प्रयोग पर मैंने कई बार टोका है, अभी तक उसका मोह नहीं छोड़ सके। शायद वे 'हम'-शब्द में हिन्दू और मुसलिम एकता का प्रतीक देखते हैं ('ह' से हिन्दू 'म' से मुसलमान)। ईश्वर उन्हें सद्बुद्धि दे। विषयांतर के लिए पुनः क्षमा-याचना !

वैश्य-बोर्डिङ्ग-हाउस में जब मैं पढ़ता था, तब भी मेरी अव्यवस्था कुछ-कुछ प्रोफेसर ट्यूफेल्सड्रोक के आदर्शों से मिलती थी। मुझे एक छोटी-सी कोठरी मिली थी। उसके लिए भी बड़ी सिफारिश की जरूरत पड़ी थी। मेरे पास ट्रंक के स्थान में एक चीड़ का बक्स था। जिस प्रकार बिना मरे स्वर्ग नहीं दिखाई पड़ता, उसी प्रकार उन दिनों बिना प्रयाग गये अच्छा ट्रंक नहीं मिलता था। लोग ज्यादातर अंडाकार टीन के डब्बों से काम चलाते थे (यह है सन् १९०६ की बात, जब मैं एफ़०ए० के सेकिंड ईयर में पढ़ता

था)। उन दिनों मुझे विज्ञान से कुछ शौक हो गया था मेरी धारणा थी कि पानी के नलों की ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि पानी ऊपर से गिरे और फिर अपने आप ऊपर उठ जाय। इस प्रकार सतत गति (Perpetual Motion), जिसे विज्ञान असंभव मानता है, सम्भव हो सकती है। यह मेरी मूर्खता ही थी। मैं काँच की नलिकाओं से, जिन्हें मैं अपने वैज्ञानिक सहपाठियों से माँग लेता था, और जिन्हें मैं दीप शिखा पर (उस समय कडुवे तेल के चिराग चलन से बाहर नहीं हुए थे। जैसे किसी विरले को भगवद्भक्ति प्राप्त होती है, वैसे किसी भाग्यवान् के पास टेबिल लैंप रहते थे) टेढ़ा कर मन-चाहा आकार दे देता था, और उनके द्वारा अपने उल्टे-सीधे प्रयोग करता था। मेरे चोड़ के बक्स के एक कक्ष में ऐसी ही धूम्र-कलुषित नलिकाओं की भीड़-सी लगी रहती थी। उसके साथ कुछ गन्धक, फिटकिरी आदि द्रव्य भी पड़े रहते थे, जिनके आधार पर मैं आविष्कारक बनने का दुःस्वप्न देखा करता था। पीछे से उस बक्स का ढक्कन उससे असहयोग करने लगा था। उस बक्स के अतिरिक्त एक चारपाई थी, जो अदवाइन ढीली रहने के कारण (मैं नौकरों से किसी बात को डाटकर कहना नहीं जानता था) नतोदर (convex) बनी रहती थी, और मैं यह संतोष कर लेता था कि अगर सोते में मेरे ऊपर कोई लाठी चलाएगा, तो मेरे न लगकर पाटियों पर रुक जायगी। कमरे में दरी के फर्श के स्थान में खजूर की चटाई थी। उसकी पट्टियाँ जीर्ण होकर कमरे के भिन्न-भिन्न भागों पर, विभाजित कुटुम्ब के सदस्यों की भाँति, अपना-अपना स्वतन्त्र अधिकार स्थापित करना चाहती थीं। मेज पर तैलाभिषिक्त ईंट रहती थी, उस पर स्नेहाप्लावित ज्ञान का दीप जलता था। कोर्स की पुस्तकें अलमारी से और बिना कोर्स की मेज़ पर से मेरा ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रतिस्पर्धा करती

रहती थीं। बुकमैन नाम के कबाड़िए से खरीदी हुई जीर्ण-शीर्ण, परन्तु महत्त्व-पूर्ण कुछ पुस्तकें अलमारी में इस आशा से डटी रहती थीं कि 'कबहुँ तो दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान।' यद्यपि मैं ब्रह्मचारियों की-सी, फूस के झाड़-जैसी, घनी चोटी रखनेवाले सिद्धांती महाशय-टाइप के विद्यार्थियों में से न था, जो देश छोड़ कर सात समंदर-पार वलायत में वेदों का डंका बजाकर ही दम लेना चाहते थे, तथापि मुझ पर स्वदेशी का काफ़ी प्रभाव था। खुदरंग पट्टू की अचकन पहनता था। उसके तंतुओं के व्यक्त हो जाने को मैं भारत की ग़रीबी का प्रतीक समझता था। यही मेरी हालत थी, पीछे से कुछ सुधार हुआ। चीड़ के बक्स का उत्तराधिकार ट्रंक को मिला। पट्टू के स्थान में मिल का कपड़ा आया, लेकिन फिर भी वही बेढंगी रफ़्तार रही।

मेरे कुछ मित्र, जो, मुझ पर स्नेह का अधिकार रखते थे, मेरी इस अव्यवस्था से नाराज़ रहते। बाबू जानकीप्रसाद सिंहल तो मुझे हाबूड़ा कहकर ही संतोष कर लेते थे, किन्तु बाबू जमुनाप्रसादजी ने, जो आजकल मथुरा म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन हैं, मेरे सुधार का बीड़ा उठाया था। इस संबंध में एक मनोरञ्जक घटना मुझे स्मरण है। उस समय मैं एम्० ए० में पढ़ता था। प्रोफेसर भी हो गया था। मेरे एक मदरासी दार्शनिक गुरु भाई का (मेरे गुरुदेव प्रोफेसर इरिकड्डू मदरास से ही आये थे), जो एम्० ए० में फर्स्ट क्लास फर्स्ट थे, शायद मद्रास यूनीवर्सिटी का रेकॉर्ड भी बीट किया था और आई० सी० एस० के लिए विलायत जाना चाहते थे, पत्र आया कि वे उत्तर-भारत देखना चाहते हैं। मैं दिल्ली आकर उनसे मिलूँ। जमुनाप्रसादजी, कमलाप्रसादजी, किशनलालजी आदि मेरे कई मित्र मेरे साथ गये। जमुनाप्रसादजी बड़े दुःखित थे कि मैं एक ऐसे महान् व्यक्ति से मिलने जा रहा हूँ, जो आई० सी० एस० के लिए विलायत

जाने वाला है, और जो सूट-बूट से अप-टु-डेट सेकिंड क्लास में में आता होगा, और मेरे पास लट्ठे का पाजामा, पुराने कोट और बेढङ्गी टोपी के सिवा और कुछ नहीं। दिल्ली पहुँच कर उन्होंने यथाशक्ति मेरी टीम-टाम की। आग्रह कर नई टोपी खरिदवाई, कोट के नीचे एक कालर भी लगाया और पूरी पार्टी के साथ मदरासी मित्र के स्वागत के लिए स्टेशन पहुँचे। उनकी ट्रेन लेट थी, प्रायः एक बजे तक रात प्लेटफार्म की बेंचों और वेटिंग रूम की कोचों पर बिताई। ट्रेन की घण्टी होने पर एक बार फिर लोगों ने अपने और मेरे कपड़ों की झाड़-पोंछ की। कुली से पूछा, सेकिंड क्लास कहाँ खड़ा होता है? 'भ्रू परि पानि' हो शवरी की भाँति उसकी प्रतीक्षा की। ट्रेन आई, सेकिंड क्लास वहीं खड़ा हुआ, जहाँ हम खड़े थे। मेरे मित्र डब्बे के द्वार पर ही खड़े थे। उनका मुख और उनके केश कालिमा में कंपिटीशन कर रहे थे। बढ़े हुए बाल ऊपर को ऐसे खड़े थे, मानो उनमें विद्युच्छक्ति का संचार हो गया हो। उनके बाल भालू के-से रुक्ष, स्नेह-शून्य और कंघे से अपरिचित थे। बदन पर एक मैली क़मीज़ थी, जिस पर रेल के कोयले के कणों का गहरा स्तर उनके चेहरे की परछाईं-सा मालूम होता था। उसके ऊपर तह किया हुआ उत्तरीय था। उनके चरण-सरोज उपाहन की 'सामा' विहीन थे, और कुछ-कुछ मलिनता के कारण दीन-से प्रतीत हो रहे थे। उन्हें देख कर जमुनाप्रसादजी की आँतें-पीतें जल गईं। मेरे मुँह पर प्रसन्नता की रेखा स्पष्ट हो गई। विजय-गर्व से मैं जमुनाप्रसादजी की ओर देखने लगा।

छतरपुर में पद के कारण कुछ व्यवस्था सुधरी थी, लेकिन बाहर के कमरे तक ही, पोशाक में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ था। भाग्य से मेरे महाराजा पोशाक की ज्यादा परवा नहीं करते थे, किन्तु वे भी कभी-कभी मेरे शिकन पड़े हुए पाजामा का

स्केच स्लेट पर बना कर मेरा मज़ाक़ उड़ा लेते थे। अब अपना घर बन जाने के कारण कुछ व्यवस्था सुधरी है, उसका श्रेय मेरी देवीजी तथा मेरे सुपुत्रों को है। उनकी व्यवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न करना मेरा प्रिय व्यसन है। यहाँ भी दो-एक महाशयों ने मेरे सुधार का बीड़ा उठाया है। एक अधिक नफ़ासत-पसन्द महोदय मेरी कुरसियों की गद्दियों के सुधार के लिए सत्याग्रह करने लगे। वे गद्दी उठा कर दूसरी गद्दी पर रख देते थे। मैंने एक बार साबुन और तौलिया मँगा कर उनसे हस्त-प्रक्षालन का प्रस्ताव किया। वे समझे, मैं उनके लिए कुछ भोजन मँगा रहा हूँ। मैंने कहा, शायद आपके हाथ गद्दी उठाने से ख़राब हो गये होंगे। वे समझ गये। इतने अक़लमन्द थे जिनको इशारा काफी होता है। तब से उन्होंने सत्याग्रह करना छोड़ दिया, और गद्दियों के आवरण भी मैंने बदल दिये। एक दूसरे महाशय कहते हैं, कमरे में इतनी तसवीरें क्यों लगा रक्खी हैं। मैं कहता हूँ, उनका करूँ क्या? बात तो उनकी ठीक है, लेकिन उसे कार्य-रूप में परिणत नहीं कर सका।

मुझे फूलों, बग़ीचों और दूध देने वाले जानवरों का शौक़ है, किन्तु वे भी मेरे घर की अव्यवस्था ही बढ़ाते हैं। जब मेरी भैंस बगीचे में छूट कर गोभी के पेड़ों पर आक्रमण करने लगती है तब शिवजी के तबेले की सी रार मेरे यहाँ भी मच जाती है। इधर अकल के साथ तुला में रक्खी जाने वाली दूध-घी देने वाली भैंस, उधर शोभा और उपयोगिता से समन्वय-कारी गोभी और टमाटर के पौदे। किसको मुख्यता दी जाय? इधर दुग्ध-प्रेम उधर शाक-प्रेम! श्रीजयशङ्करप्रसादजी के नाटकों में भी ऐसा अन्तर्द्वन्द्व न उपस्थित हुआ होगा। इस वर्णन में बहुत अत्युक्ति तो नहीं, लेकिन किसी मेहमान को मेरे यहाँ ठहरने में कष्ट न होगा, यद्यपि मैं चाहता यही हूँ कि मेरे मेहमान चिमगादड़

के मेहमान बने रह कर मेरी ही तरह उलटे लटके रहें।

भुलक्कड़ भी मैं अव्वल दर्जे का हूँ, यद्यपि इतना नहीं कि चश्मा लगा कर चश्मे को ढूँढ़ता फिरूँ, अथवा स्टेशन जाते हुए ऐसा भान होने पर कि घड़ी घर भूल आया हूँ, जेब से घड़ी निकाल कर देखूँ कि घर से घड़ी लाने का समय है या नहीं। एक-दो मर्तबा रिटर्न टिकट पूरा-का-पूरा टिकट-कलक्टर को दे बठा हूँ। एक बार अपनी देवीजी के साथ अलीगढ़ गया। दो टिकट ख़रीदे थे, एक टिकट कहीं गुम हो गया। बड़ी मुश्किल दरपेश हुई। टिकट देवीजी को दे दिया, और असबाब कुली को। गेट पर बड़े अदब के साथ देवीजी से कहा—"टिकट दे दीजिए।" टिकट-कलक्टर महोदय पर यही प्रभाव पड़ा कि मैं उन्हें रिसीव करने आया हूँ। बेचारा कुछ न बोला। उस समय प्रत्युत्पन्न मति से काम चल गया।

रोज़ प्रातः काल मुझे प्रायः आध घण्टा पाठ्य तथा लेखन-सामग्री जुटाने में लग जाता है। दवात-क़लम या काग़ज़ न होने के कारण बहुत-से ब्राह्म मुहूर्त अनुत्पादक रह जाते हैं। मैं उन डॉक्टर महोदय से कुछ अच्छा हूँ, जो घर पर लेखन-सामग्री न होने के कारण एक चैक न भुना सके। फ़ाउण्टेन पैन, छड़ी, छाता और टोपी खो जाना तो साधारण बात है, मैं ओवर कोट खो चुका हूँ। यदि नहीं भूला हूँ, तो दो चीज़ें—एक अपने को और दूसरा अपना चश्मा।

एक बार सोते से उठने पर एक साथ यह निर्णय नहीं कर सका था कि मैं राजा की मंडी के स्टेशन पर सोया था या वैश्य-बोर्डिङ्ग में। सड़क पर खड़े हुए सड़क के एञ्जिन में लगी हुई लाल रोशनी ने यह भ्रम उत्पन्न कर दिया था। सुबह अपने भ्रम को मैंने अपने एक मित्र से कह दिया। उन्होंने न जाने क्या-क्या गढ़ डाला।

मैं स्वयं बेवकूफ़ बना हूँ बनाया बहुत कम गया, क्योंकि मुझमें अधिक महत्त्वाकांक्षा नहीं। वे लोग अधिक बेवकूफ़ बनते हैं, जिनमें महत्त्वाकांक्षा की मात्रा कुछ अधिक होती है। मुझे बेवकूफ़ होने का गर्व तो नहीं है, किन्तु उसकी लज्जा भी नहीं है, क्योंकि मैं धूर्त नहीं हूँ। नेव (Knave) की अपेक्षा फ़ूल (Fool) होना श्रेयस्कर है।

मैं अर्थ-लाभ के लिए दूसरे को बेवकूफ़ बनाना पाप समझता हूँ, हाँ, शुद्ध विनोद के लिए किसी को मूर्ख बनाना बुरा नहीं। मेरे एक मित्र डाक के बहुत शौक़ीन थे, किन्तु डाक उनकी आती बहुत कम थी। डाकिए के दर्शन के लिए वे उत्कंठित रहते थे। एक रोज़ मैंने उनके डेस्क से उनकी सब संग्रहीत चिट्ठियाँ निकाल लीं, और उनके बिना जाने लेटर-बॉक्स में डाल दीं। डाकिया उन चिट्ठियों का पुलंदा लेकर उनके पास आया। वे उसे देख कर बड़े प्रसन्न हुए, किन्तु जब उन्होंने देखा कि वे बासी चिट्ठियाँ हैं, तो बड़े खिन्न और लज्जित हुए।

एक बार फ़र्स्ट एप्रिल को यह खबर उड़ा कर कि मैनपुरी के स्टेशन से डॉक्टर तृषार्तनाथसिंह, जो बड़े लोकप्रिय रह चुके थे, पास हो रहे हैं, लोगों की भीड़ स्टेशन पर इकट्ठी कर दी। कोई गाड़ी लेकर पहुँचे और कोई ताँगा। दो-एक महाशय तो डॉक्टर साहब के प्रिय भोज्य पदार्थ भी लेकर पहुँचे। मुझे उन पर बड़ी दया आई। फिर मैं अपनी करतूत पर स्वयं ही लज्जित हुआ। एक बार एक घड़ी की दूकान से यह नोटिस निकाल दिया कि पाँच तारीख़ तक घड़ियाँ मुफ़्त मिलेंगी। शर्त जानने के लिए उक्त कम्पनी के दफ़्तर ने सबको एक-एक लिफ़ाफ़े में छपा हुआ 'फ़ूल' दे दिया। इस प्रकार मैंने इस विश्वव्यापी संप्रदाय की सदस्यता निभाई।

एक स्केच

(मेरे एक शिकारपुरी मित्र)

अँगरेजी में एक कहावत है कि मनुष्य अपने मित्रों से जाना जाता है। इसके अनुसार पाठकगण चाहें, तो मुझे भी अपने मित्र के समकक्ष रख लें, किन्तु मैं उनकी मित्रता स्वीकार करने में लज्जित नहीं हूँगा।

नवागन्तुकों की साधारणतया चर्चा हुआ ही करती है, किन्तु जब मेरे शिकारपुरी मित्र ने वैश्य-बोर्डिङ्ग-हाउस में पदार्पण किया, तब सुपरिंटेंडेंट (तब तक 'वार्डन' शब्द जेल वालों से चुराया नहीं गया था) से लेकर मेहतर तक उनकी चर्चा करता। अपने प्रिय मित्र का नाम नहीं बतलाऊँगा। इसलिए नहीं कि बदनाम होंगे, वरन् इसलिए कि वे इतने सज्जन, सुशील और सुयोग्य हैं कि बाइबिल के शब्दों में मैं उनके जूते के तस्मे भी खोलने योग्य नहीं, और उनका पवित्र नाम एक लक्ष गायत्री-मन्त्र के जप द्वारा जिह्वा को पवित्र किये बिना नहीं लिया जा सकता।

'गुरबा कुश्तन रोज़े अव्वल' (बिल्ली को पहले दिन ही मार देना चाहिए, जिससे वह पीछे से उपद्रव न कर सके)। उन्होंने पहले ही दिन सुपरिन्टेण्टेण्ट पर रौब गाँठ दिया। सुपरिन्टेण्डेण्ट

महोदय ने उनका निवास-स्थान पूछा। "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाले सिद्धान्त के उपासक "देश-कालानवच्छिन्न" आत्मा वाले मेरे मित्र को यह बात ऐसी अरुचिकर प्रतीत हुई, जैसे महात्मा सूरदास को हरि-विमुख लोगों का संग। वे फौरन कह उठे— "नाम लिख लिया, काफी है। शहर से क्या मतलब ? लियाकत देखिए साहब ! आपको आम खाने से काम या पेड़ गिनने से ? आप पढ़े-लिखे आदमी हैं, व्यर्थ की सुनी-सुनाई बातों के चक्कर में न पड़िए।"

जर्जर ऋषियों के-से उनके दुबले-पतले शरीर में चेहरे का प्रत्येक अवयव अपने शुभ अस्तित्व की घोषणा-सा करता प्रतीत होता था। उनकी रजत-मेखला-विभूषित कटि सिंहनी और भिड़ (बर्र) की कटि को लज्जित करती थी। उसी खिसियानेपन के कारण सिंहनी मनुष्य-मात्र से वैर करने लग गई थी, और भिड़ जहाँ-तहाँ लोगों को काटती फिरती है। उनके परस्पर स्पर्धाशील नेत्र-युग्मों की कज्जल-कला छिपाये नहीं छिपती थी। उनकी 'भुँइ' में लोटनेवाली नहीं, किन्तु कमर को विना प्रयास स्पर्श करने बाली, काली, मोटी, उँछी-गुँछी, गोरस और दधि से धुली, स्वच्छ, मेचक, मसृण, नागिन-सी चोटी सब के आकर्षण का विषय थी। उसे पाकर सूर के बालकृष्ण भी "मैया ! कबहिं बढ़ैगी चोटी; किती बार मोहिं दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी।" वाली चिन्ता भूल जाते। प्राचीन हिन्दू-संस्कृति उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी, किन्तु वे सूट-बूट बिलकुल अप-टु-डेट पहनते थे। अपने दुग्ध-फेन-सम धवल, स्टिफकालर कफों पर उन्हें गर्व था। के० वी० कम्पनी-निर्मित अपने डर्बी शू की वे स्वयं ही भूरि-भूरि प्रशंसा किये बिना नहीं रहते थे।

जिस समय आप वैश्य-बोर्डिङ्ग-हाउस में स्थित मेंडू महाराज के स्मारक-स्वरूप शिव-मन्दिर के चबूतरे पर ध्यानावस्थित होते

थे, उनके चाकरदेव वृक्षों की पत्तियों से छन कर आने वाले भगवान् अंशुमाली की किरणों का छाते द्वारा निवारण करते रहते थे। मुझे उस समय भर्तृहरिशतक में वर्णित एक नायिका की याद आ जाती थी, जो शशि-किरणों से भी अपने को बचाती थी—

"विश्रम्य विश्रम्य वनद्रुमाणां छायासु तन्वी विचचार काचित्;
स्तनोत्तरीयेण करोद्धृतेन निवारयन्ती शशिनो मयूखान्।'

उस समय वे तपोलीन, छत्रधारी, चक्रवर्ती राजा-से लगते थे। वे धार्मिक अवश्य थे, किन्तु उनमें कट्टरता छू तक न गई थी। उनकी व्यावहारिक बुद्धि बड़ी प्रखर थी। जरूरत पड़ने पर वे पञ्चपात्र में खरिया घोल कर यज्ञोपवीत से अपने 'केन्वश' शू को कपूर-कुन्देन्दु-सम धवल बना लेते थे।

अपनी लियाकत पर मेरे मित्र को नाज था। और, थे भी लियाकत के यकताँ। प्रिन्सिपल जौन्स उनके शुद्ध अँगरेजी लिखने पर फिदा थे। संस्कृत में उनको ७५ फीसदी से कम नम्बर नहीं मिलते थे। उर्दू की इबारतआराई में बड़े-बड़े मौलवी उनसे हार मानते थे। उनके वीणा-विनिन्दित कंठ ने उनके रूप-माधुर्य की कमी को पूरा कर दिया था। जिस समय वे 'बृहत् स्तोत्र-रत्नाकर' के श्लोकों का पाठ करते थे, बोर्डिङ्ग-हाउस में स्तब्धता का साम्राज्य हो जाता था। क्षीर-शायी विष्णु-भगवान् की श्वास से जिस प्रकार वेद निकलते हैं, उसी प्रकार उनके मुख से अनुप्रासमयी भाषा निःसृत होती थी। Apt alleteration's artful aid उनके पीछे कुतिया की भाँति उनका पदानुसरण करती थी। मेस के नोटिस भी अनुप्रासमयी भाषा में लिखे जाते थे—"Purveyor presses provokingly. Please pay promptly." एक बार उन्होंने फ़ीरोज़ाबाद के कुछ लड़कों को छकाने के लिए अनुप्रास

की एक लड़ी बात-की-बात में जोड़ दी। शेक्सपियर और कालिदास भी शायद अनुप्रासों की वैसी छटा न दिखा सकेंगे—

'Four free, frivolous, forward fortune-fovoured fools from Firozabad factory fined four farthings for frequently flying from football field for full five fortnights."

इतनी लियाक़त रखते हुए भी वे मेरी ही तरह इम्तहान पास करने में जल्दी नहीं करते थे। जल्दी का काम शैतान का होता है। वे 'शनैर्विद्या च वित्तं च' में विश्वास करते थे। किन्तु वे लियाक़त की कमी के कारण फेल नहीं होते थे। कॉलेज से संबंध बनाये रखने के लिए देवता लोग उनकी सहायता करते रहते थे। उस ज़माने में आजकल की-सी क्षुद्र भेद-बुद्धि न थी। स्कूल और कॉलेज के साथ-साथ इम्तहान होते थे। एफ़० ए० में मेरे मित्र के रौल-नम्बर का एंट्रेंस का परीक्षार्थी अनुपस्थित था। 'अयं निजः परो वेत्ति, गणनां लघु चेतसाम्' के न्याय से उसी सीट पर वे जा डटे। पर्चा आया, उसे 'अनसीन' (Unseen) का पेपर समझ कर हल करने लगे। मन में सोचा, पर्चों के क्रम की गारंटी नहीं होती। घंटे-भर पश्चात् उन पर रहस्य खुला कि वह सीट उनकी नहीं। इंगलिश-हिस्ट्री ली थी, किन्तु लियाक़त के जोम में रोमन-हिस्ट्री का पर्चा कर आये। बी० ए० में एक पर्चे में दो कापियाँ ली थीं। एक कापी मेज़ पर छोड़ी, और दूसरी पर्चे और ब्लॉटिंग में लपेट कर बोर्डिङ्ग ले आये। उनके उत्तरों को देख कर हम लोग दंग रह गये थे।

मेरे मित्र की सभी बातें निराली थीं। उलटी भाषा बोलने का उन्हें अनुपम अभ्यास था। संस्कृत के श्लोक-के श्लोक उलटी भाषा में पढ़ते चले जाते थे। 'मृषा वदति लोकोऽयं ताम्बूलं मुखभूषणम्; मुखस्य भूषणं पुंसां स्यादेकैव सरस्वती', इसका

पाठ वे पढ़ते थे—रिमषा दवति कोलोयं, मातूलं खुं पूभणं। खुमस्य पूभणं सुंपां, घासेकैव रस्वत्वसी'। मॉनीटर होकर वे हाज़िरी भी उलटी ही लेते थे। माधुरीप्रसाद का धामुरीरपसाद, गोविंदराम का वोगिंदमार, राधारमन का धारामरन कर देते थे। वैभव-प्रदर्शन में वे किसी प्रकार कमी नहीं छोड़ते थे। लियाक़त का रौब तो वे पद-पद पर जमाते थे। कभी-कभी धन का वैभव भी दिखला देते थे। घर से लाये हुए नोटों और गिन्नियों को मेज़ पर प्रदर्शनार्थ पड़ा रहने देते थे। एक बार प्रिंसिपेल महोदय का इंसपेक्शन हुआ। उन्होंने उनके स्वागत के लिए गिन्नियों का 'वेलकम' बनाया।

अगर उनमें कमी थी, तो एक बात की। वह यह कि अपनी उदार वृत्ति के कारण वे अपने गाँव का नाम बतलाने में संकोच करते थे। एक बार बोर्डिङ्ग-हाउस के लड़कों ने अपने-अपने ट्रंकों पर अपने नाम लिखाये और नाम के साथ-साथ अपने स्थान का भी नाम लिखाया। बार-बार कहने, बड़ी दीनता के साथ अनुनय-विनय करने तथा नाम मुफ़्त लिखाने के क्षुद्रतम, परन्तु मुझ-जैसे ग़रीब लड़के द्वारा दिये जाने के कारण महत्तम प्रलोभन देने पर भी उन्होंने शिकारपुर लिखाने का साहस नहीं किया। डिस्ट्रिक्ट बुलंदशहर लिख कर उन्होंने शहर का नाम लोगों में अनुमान-बुद्धि के सरल एवं स्वास्थ्यकर व्यायाम के लिए छोड़ दिया। वैश्य-बोर्डिङ्ग-हाउस के वे सुखमय दिवस अब नहीं लौट सकते, यद्यपि मैं भी हूँ और वैश्य-बोर्डिङ्ग-हाउस भी।

शैल शिखर पर

(मेरी कसौली यात्रा)

यद्यपि मेरे लिए छुट्टी और काम के दिनों में विशेष अन्तर नहीं है—न सावन सूखा न भादों हरा,' तथापि जब छुट्टी होती है तब मैं भी अपनी छुट्टी मान लेता हूँ, और साल भर व्यग्र रहे बिना भी बड़े गर्व और गौरव के साथ छुट्टी मनाने आगरे से बाहर चला जाता हूँ। कथा नहीं सुनता तो कथा का प्रसाद अवश्य ले लेता हूँ। आगरा रहकर करूँ भी क्या? उन दिनों वहाँ विद्यार्थियों तथा शिक्षकों का, जिनके संपर्क में मैं प्रायः रहा करता हूँ, ऐसा अत्यंताभाव हो जाता है, जैसे गधे के सर से सींगों का। ड्रमण्ड रोड पर एकदम वैधव्य-सा छा जाता है।

जो लोग किसी रमणीय या दर्शनीय स्थान में अपनी छुट्टी बिताने की आर्थिक सुविधा नहीं रखते वे बेचारे अपने घर चले जाया करते हैं। उन्हीं लोगों में से मैं भी हूँ। यद्यपि मेरा घर तो आगरे के पास ही है, और मुझे कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, तथापि छुट्टियों के लिए मेरा घर फरीदकोट * हो जाता है

* मेरे भाई बाबू रामचन्द्र गुप्त उस समय वहाँ डेपूटेशन पर थे।

क्योंकि वहीं मेरे पिताजी रहते हैं। 'तहाँ अवध जहाँ राम निवासू।

कुछ दिन फरीदकोट रहा। पूर्ण परिवार के साथ रहने का आनन्द उठाया। यद्यपि गर्मी वहाँ भी आगरे से कम न थी, और धूप ऐसी कड़ाके की पड़ती थी कि 'छाहौं चहति छाँह' की बात चरितार्थ हो जाती थी, तथापि सब लोग एक कमरे में, ('अहि-मयूर' मृग-बाघ' की भाँति नहीं,) लड़ाई के समय में दुर्गस्थ लोगों की भाँति, विद्युत-व्यजन की संरक्षता में समय बिता देते थे। रात्रि में खुली छतों के ऊपर तारक-विखचित गगन-वितान के नीचे सोने को मिलता था। फरीदकोट में पानी की टोट के कारण सूए (बम्बे) में प्रातः-सायं भैंसों की भाँति लोट पोट होने चला जाया करता था दिन सुख से बीत रहे थे। किन्तु लोभ बुरा होता है। अध्ययन का लोभ मुझे लाहौर घसीट ले गया, विशेषकर ऐसे समय में, जब वहां गर्मी ने उग्र रूप धारण कर रक्खा था। आगरे को लोग बहुत गरम बतलाते हैं, और है भी; परन्तु उन दिनों आगरे और लाहौर की गर्मी में चूल्हे और भाड़ का-सा अन्तर प्रतीत होता था। बन्द कमरे में पंखे के नीचे भी अनलमय अनिल का सामना करना पड़ता था। इस गरम हवा के आगे बिहारी की बिरहिणी नायिका की उच्छ्वास या जायसी की नागमती की विरह के अक्षरों से दग्ध पातीभी शायद शीतल मालूम होगी पंखे से हटकर बैठने में स्वेद-सलिल की सरिता में निमग्न होना पड़ता था। इस गर्मी के आगे अध्ययन कीसरगर्मी को सर झुकाना पड़ा। मैं चार रोज रहकर भागने वाला ही था कि बैठे-ठाले एक आफत और सर लग गई। *"एकस्य दुःखस्य

---

* समुद्र के पार की तरह जब तक एक दुःख के अन्त तक नहीं पहुँचा था, कि दूसरा उपस्थित हो गया। जहाँ कोई कमी होती है, वहाँ अनर्थ अधिक होते हैं।

न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य; तावद्‌द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति।" 'गरीबी में आटा गीला।'

पाँच जुलाई की सायंकाल को पशु पक्षियों की भाँति मैं भी अपने निवास स्थान को लौट रहा था। गर्मी के कारण गति भी मन्द न थी। दार्शनिक और तार्किक होता हुआ भी 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्' के चक्कर में विचार-मग्न भी न था। खूब सतर्क था, तो भी न जाने कहाँ से दो श्वानदेव (मालूम नहीं कैसे थे—पागल अथवा स्वस्थ, क्योंकि केवल पागल ही नहीं लड़ा, बुद्धिमान मनुष्य भी लड़ा करते हैं।) आपस में मल्ल-युद्ध करते और रौद्र-रस के अनुभवों का पूर्ण प्रदर्शन करते हुए विद्युत्-गति से मेरी टाँगों के पीछे आ गये। मैं पीछे देखने भी न पाया था कि उनके नख मेरी टाँग में लग गये। मेरे शान्तिमय स्पर्श से श्वान-मल्लों का विरोध शान्त हो गया। इसका मुझे गौरव है। मल्लों ने हार जीत बराबर मान अपने अपने घर की राह ली। किन्तु मेरे पीछे एक बला लग गई। इसी को कहते हैं कि आपत्ति कोई मोल लेने नहीं जाता।

न्याय-शास्त्र के कर्त्ता महर्षि गौतम एक बार कुछ सोचते हुए चले जाते थे। बेचारे आगे न देख सके, और कुएँ में गिर पड़े। भगवान् ने दया करके उनके पैरों में आँखें दे दीं, तभी से उनका नाम अक्षपाद पड़ा। यदि भगवान ने उस समय सारी मनुष्य-जाति के ये कम-से-कम अक्षपाद प्रभु के तार्किक अनुयायियों के पैरों में नेत्र दे दिये होते, तो शायद मैं इस आपत्ति से बच जाता। नायक-नायिकाओं के नख-क्षतों का वर्णन साहित्य में पढ़ा था। यद्यपि उसमें भी थोड़ा पागलपन रहता होगा, तथापि उसके कारण किसी को कमरे से बाहर नहीं जाना पड़ता था। इन श्वान महोदयों के नख-क्षत के कारण चौदह बार सूचिका-बेध (Injection) के प्रायश्चित्त की, बात-की-बात

में, डाक्टर ने व्यवस्था दे दी। जिस प्रकार स्पर्शमात्र से मनुष्य कलंकित हो जाता है, उसी प्रकार कुत्ते के काटे हुए व्यक्तियों की गणना में मैं भी आ गया।

न्यायालयों में जब तक अभियुक्त पर जुर्म साबित न हो जाय, तब तक वह निर्दोष समझा जाता है, किन्तु चिकित्सालयों में कुत्ता जब तक गैर-पागल प्रमाणित न हो जाय, तब तक पागल ही माना जाता है। अपागल प्रमाणित करने की केवल एक विधि है—कुत्ते को बाँध रक्खा जाय। यदि वह दस दिन तक न मरे, तो स्वस्थ है, अर्थात् पागल नहीं है। और, यदि दस दिन के भीतर मर जाय तो पागल है। दस दिन की राह देखने में देरी हो जाने की आशंका से डाक्टर लोग इंजेक्शन फौरन ही शुरू कर देते हैं। यदि कुत्ता दस दिन में न मरा, तो इंजेक्शन बन्द कर देते हैं। कुत्ते का पता यदि निश्चित रूप से लग जाय तो उसको कम-से-कम दस दिन तक जीवित रहने के लिए भगवान् मृत्युञ्जय की आराधना करनी पड़ती है। पागल कुत्ते के मस्तिष्क की भी अनुवीक्षण-यन्त्र (Microscope) द्वारा परीक्षा की जाती है। यदि भावात्मक फल आया, तब तो निश्चय हो जाता है कि कुत्ता पागल था, किन्तु यदि उसके दिमाग में पागलपन के चिन्ह न मिले, तो यह निश्चय नहीं होता कि कुत्ता पागल नहीं था। इसलिए दस रोज तक कुत्ते को मेहमान बनाकर उसकी प्रतीक्षा करना ही श्रेयस्कर है। हँसी की दूसरी बात है, पर आशंका मात्र पर भी इन्जेक्शन लेना परम आवश्यक है। यदि एक बटा दस प्रति शत भी आशंका हो, तो जान खतरे में न डालनी चाहिए। जान तो वैसे ही सदा खतरे में रहती है, किन्तु जान-बूझकर मौत की राह जाना ठीक नहीं। शरीर में यदि जरा भी जहर प्रवेश कर जाय, और मनुष्य को हाइड्रोफोबिया अर्थात् जल-विक्षिप्तता (इस बीमारी वाला जल से डरता है। प्यास होते

हुए भी पानी नहीं पी सकता।) हो तो वास्तव में कुत्ते की मौत मरना पड़ता है। यह रोग असाध्य हो जाता है। वह मनुष्य भी कुत्ते की तरह काटने को दौड़ता है। यदि उस मनुष्य की लार किसी को लग जाय, तो उसे भी इन्जेक्शन लेना आवश्यक हो जाता है। कुत्ते के नख या दंत-स्पर्श होते ही, तुरन्त अस्पताल में जाकर, क्षत को नश्तर से खुरचवाकर कास्टिक लगवा लेना चाहिए। इस क्रिया को 'कोटेराइज' करना कहते हैं।

'शुभस्य शीघ्रम्' न्याय से डाक्टरों ने लाहौर में ही इंजेक्शन देना आरम्भ कर दिया। दो इन्जेक्शनों में ही भूगोल का पढ़ा हुआ सत्य प्रमाणित होने लगा कि पृथ्वी घूमती है - यद्यपि इस टीके का वेक्सीन अब आगरे, लखनऊ, दिल्ली आदि स्थानों के अस्पतालों में रहता है और जिस प्रकार सब स्थानों का गंगाजल पवित्र और मोक्षप्रद होता है, उसी प्रकार सभी स्थानों में इस टीके से पूर्ण लाभ होता है, तथापि जिस प्रकार हरिद्वार का कुछ और ही महत्व है, उसी प्रकार कसौली की भी विशेषता है। यदि दुर्भाग्य से किसी को गर्मी के दिनों में कुत्ता काटे, और उसे आर्थिक असुविधा न हो, तो वह अवश्य कसौली जाय। यहाँ पर आतप की व्यथा कम व्यापती है।

मैंने भी फरीदकोट जाकर, किसी प्रकार माँग-जाँच कर गर्म कपड़े जुटाये और कसौली की राह ली। मैंने सोचा, कुत्ते ने काटा तो काटा, कसौली की सैर तो हो जायगी। साहब लोगों की भाँति गर्मियों में शैल-शिखर-वास कर लूँगा। "बधिया मरी तो मरी, आगरा तो देखा।" यहाँ पर आतप के भीषण ताप से बच जाऊँगा, और चतुर्दश (मुझे तो द्वादश ही लगे, क्योंकि दो लाहौर में लग चुके थे) सूचिका-वेध द्वारा पूर्व जन्म के पाप (मैं यह नहीं कहता कि इस जन्म में मैंने पाप नहीं किये) का प्रायश्चित्त हो जायगा। 'गोरस-बेचन, हरि-मिलन; एक पन्थ,

दो काज' की बात चरितार्थ होगी। अस्तु, भटिण्डा और राजपुरा बदलता हुआ अम्बाला पहुँचा। वहाँ कुछ वर्षा भी हो चुकी थी। दूसरे वातावरण में प्रवेश हुआ। गाड़ी में कुछ नींद भी आई। कालका से दो-एक स्टेशन पूर्व आँख खुली।

गाड़ी की लड़खड़ाती हुई चाल से प्रतीत हो गया कि हम लोग पर्वतीय प्रदेश में प्रवेश कर रहे हैं। गाड़ी में दो एञ्जिन थे, तब भी वह नौ दिन में अढ़ाई कोस की चाल चल रही थी। ईषद्विच्छिन्न मेघावली में अरुणोदय बड़ा सुहावना लगता था। गम्भीर नीलिमा में स्वर्ण-रजतमय प्रकाश की शलाकाएँ अपूर्व शोभा दे रही थीं। शीतल वायु के स्पर्श ने शरीर में एक अपूर्व स्फूर्ति उत्पन्न कर दी। अकारण हँसी आने लगी—लाहौर में तो हँसाये पर भी हँसी न आती थी। गर्म वासकट धारण की, स्टेशन पर पहुँचा, कुलियों ने असबाव उतारा, और मैं प्लेटफार्म पर खड़ा हो गया।

मुझे शास्त्रीय ज्ञान तो था, अनुभवीय ज्ञान न था। धरमपुर का टिकट ले चुका था, क्योंकि रेलवे के टाइमटेबुलों में कसौली के लिए धरमपुर का ही स्टेशन बतलाया जाता है। वैसे कालका से कसौली के लिए मोटरें सस्ती मिल जाती हैं। 'पासच्युर इंस्टिट्यूट' की एक छोटी लारी भी नित्य आती-जाती है। सड़क के रास्ते कालका से कसौली केवल २२ मील है, और रेल के रास्ते क़रीब २८ मील पड़ता है। वर्षा के समय रेल में कुछ सुविधा रहती है। ख़ैर। धरमपुर पहुँचा। वहाँ के स्टेशन का वातावरण बड़ा शान्त है। पहाड़ी स्टेशनों का वातावरण प्रायः ऐसा ही होता है। वर्षा हो रही थी। मोटर मिलने में कुछ कठिनाई अवश्य हुई, किन्तु सकुशल कसौली आ गया।

पासच्युर इंस्टिट्यूट में ग़रीबों के लिए मुफ्त ठहरने का स्थान है, और अमीरों के लिए आठ आना रोज़ पर अच्छे

कार्टर मिल जाते हैं। विक्टोरिया-होटल भी अच्छा है। ग़रीबों के कार्टर तो जैसे मुफ्त के कार्टर होते हैं, वैसे ही होते हैं, किन्तु यहाँ ग़रीबों के लिए कम्बल और बर्तन भी मिलते हैं। खाने के लिए बालिग़ आदमी को छः आने रोज़ और बच्चे को तीन आने रोज मिलते हैं। मुझे तो छोटे भाई के पुण्य-प्रताप से क्लब के पास एक अच्छा स्थान मिल गया था। मैं कोठी के मालिक के लिए हृदय से अनुगृहीत हूँ। हाँ, वह स्थान बड़ी ऊँचाई पर था। चढ़ते-चढ़ते राम याद आते थे। कबीरदासजी की ऊँचाई का आदर्श तो लम्बी खजूर ही है (आखिर मुसलमानी संस्कार कहाँ जाते ?)। वे तो साईं का घर भी लंबी खजूर की ही बराबर दूर बतलाते हैं, लेकिन मैं जहाँ ठहरा था, वह स्थान बहुत ऊँचा था। खजूर से ऊँचे तो यहाँ के चील के दरख्त होते हैं (कसौली को समुद्र की सतह से ५००० फ़ीट ऊँचा बतलाते हैं। मुझे ५००० फ़ीट नहीं चढ़ना पड़ा)। मेघ भी पर्वत-शृंगों के आगे ऊँचे नहीं मालूम होते।

यहाँ वर्षा प्रायः नित्य होती है। बिना छाता बरसाती के काम नहीं चलता। तभी तो कालिदास का यक्ष मेघ की आर्द्रता (दयार्द्रता) का अनुभव कर उसको अपनी विरह-गाथा सुना कर अपनी प्रियतमा के लिए संदेश-वाहक बनाना चाहता था। जो अपने निकट होता है, उसी से बात की जाती है।

कसौली कुत्ते के काटे वालों के लिए तो प्रधान तीर्थ स्थान है ही, किन्तु यहाँ जो लोग रहते हैं, वे सब कुत्ते के काटे हुए ही नहीं रहते। यहाँ पर एक बहुत सुन्दर छावनी है। यहाँ की सड़कें बहुत रमणीक हैं। चढ़ाव-उतार की और चक्करदार अवश्य हैं, किन्तु उनके दोनों ओर खूब हरियाली रहती है। कुछ स्वाभाविक उपज है और कुछ लगाई हुई है। बाजार भी अच्छा है। यहाँ पर गिरजाघर, क्लबघर, बारकें, डेरी आदि देखने योग्य हैं।

मंकीपाइन्ट अर्थात् बानरशृङ्ग यहाँ का उच्चतम शिखर है। जाड़ों में खूब बरफ पड़ती और आबादी कम हो जाती है।

कसौली का कुत्ते का अस्पताल (नहीं-नहीं, कुत्ते के काटे हुए मुझ-ऐसे आदमियों का अस्पताल) पासच्युर इन्स्टिट्यूट बहुत बड़ी संस्था है। पासच्युर एक फरासीसी डाक्टर का नाम है, जिन्होंने पहले-पहल इस प्रकार के इलाज की ईजाद की थी। उन्हीं के नाम पर इस संस्था का नाम पड़ा है। यहाँ पर करीब ७० या ८० आदमी काम करते हैं। इन्जेक्शन देने के लिए भी कई डाक्टर रहते हैं। जख्मों के ड्रेसिङ्ग का अलग प्रबन्ध है। नखों और दांतों के क्षतों की गहराई और संख्या के हिसाब से रोगियों की चार कक्षाएँ की जाती हैं। चौथे वर्ग के लोगों से इन्जेक्शन लगना शुरू होता है, और नम्बरवार इन्जेक्शन लगते जाते हैं जब से इंजेक्शन का सामान तैयार होकर बाहर जाने लगा है। तब से यहां रोगियों की संख्या घट गई है। करीब बीस और तीस के बीच में हाजिरी रहती है।

इस इंस्टिट्यूट में इंजेक्शन लगाने के अतिरिक्त वेक्सीन और सीरम भी तैयार किये जाते हैं। इसके लिए यहाँ पर बहुत से खरगोश और भेड़ें भी रहती हैं। बन्दरों पर तैयार किये हुए वेक्सीन और सीरम की परीक्षा होती है।

इस इंस्टिट्यूट के अतिरिक्त यहाँ पर एक सेन्ट्रल रिसर्च इंस्टिट्यूट अर्थात् केन्द्रीय गवेषणा-संस्था भी है। यहाँ पर साँप के काटे, प्लेग, कालरा आदि के इंजेक्शनों का सामान तैयार किया जाता है। यह संस्था पासच्युर इंस्टिट्यूट से भी अधिक महत्व की है, किन्तु लोग इसे कम जानते हैं। यहाँ से सहस्रों रुपए का वेक्सीन हिन्दोस्तान भर में जाता है। इस संस्था में एक घोड़े की तसवीर है जिसके द्वारा १०,०००) का साँप के काटे का

सीरम तैयार कराकर बाहर भेजा गया है। इस सीरम को ऐंटी-वेनम अर्थात् जहरमोरा कहते हैं।

यहाँ के केन्टूनमेन्ट मजिस्ट्रेट मेरे मित्र निकले, उन्हीं की कृपा से यह सब देखने को मिला। दुनिया बहुत बड़ी नहीं है, हर जगह कुछ न कुछ जान-पहचान निकल आती है। बारह दिन कसौली रहकर खूब सैर की। अकेले रहकर स्वावलम्ब का पाठ पढ़ा। यद्यपि उस कोठी का मुसलमान बैरा मेरी बहुत कुछ मदद करता था तथापि थोड़ा बहुत खाना मैं स्वयं बनाता था। एक वक्त एक होटल में खाता था। सब से अच्छी बात यह थी कि कुछ दिन के लिए पुस्तकों से छुट्टी मिल गई। बाजार में हिन्दी की पुस्तकों का अभाव था। अंग्रेजी के दो उपन्यास पढ़े और यह लेख लिखा। कसौली यात्रा का इतना ही साहित्यिक महत्व था।

ठोक-पीट कर लेखक-राज

१

(मैं लेखक कैसे बना ?)

शास्त्रों में कहा गया है कि 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते'। वे संस्कार क्या थे जिनसे मैंने लेखक रूपी द्विजत्व प्राप्त किया ? मैंने आठवें दर्जे तक फारसी पढ़ी। नवें दर्जे में जब फारसी के साथ अरबी पढ़ने का सवाल आया तब मैंने सोचा कि मुल्ला बनने से पण्डित बनना अच्छा है। हिन्दी का ज्ञान अक्षर-बोध से कुछ अधिक था। ध्रुवलीला और प्रह्लादलीला तक मेरी पहुँच थी। तुलसीकृत रामायण का श्रवण-सुख लेना ही मैं पसन्द करता था। कभी-कभी धार्मिक दृष्टि से पाठ भी कर लेता था। बहुत हुआ तो आर्य समाज और सनातन धर्म के शास्त्रार्थ-सम्बन्धी ट्रैक्ट पढ़ लिये। उस समय और पढ़ने को था भी कुछ अधिक नहीं, भजनों की किताबों का थोड़ा प्रचार अवश्य था। खैर सनातन धर्मी होते हुए भी मैंने आर्य समाजी पण्डित तुलसीरामजी की किताबों से संस्कृत आरम्भ की। (उस समय शायद पण्डित तुलसीरामजी सनातन धर्मी हो गये थे) मैट्रिक में संस्कृत लेकर पास हो गया। फर्स्ट ईयर में आया। ग्राउस साहब के रामायण के अँग्रेजी अनुवाद से

रामायण के काव्य-सौन्दर्य का अनुभव किया। पहले जब रामायण की कथा सुना करता था तब वह मेरी कौतूहल-बुद्धि की तृप्ति करती थी। भट्टजी की रामायण से कुछ अंश और कुछ अंश पण्डित ज्वालाप्रसादजी की रामायण से पढ़े, किन्तु पूर्ण नहीं। मैं अपूर्णता में अधिक विश्वास करता हूँ। रामायण का पूर्ण पाठ दो-चार बार परमात्मा को रिश्वत देने के अर्थ अवश्य किया। बी० ए० में आकर पिताजी के पाठ की विनय-पत्रिका के कुछ पद पढ़े। विनय-पत्रिका का पहला परिचय मुझे 'केशव कहि न जाय का कहिए' के अँग्रेजी अनुवाद से हुआ जो मैंने बाबू भगवानदास की किसी अँग्रेजी पुस्तक में पढ़ा था। मुझे उस समय उस पद में दर्शन-शास्त्र का सार सा प्रतीत होता था। उसको पढ़कर मुझे उतनी ही प्रसन्नता हुई थी जितनी कि आर्शमीदस (Archemedes) को सापेक्षित गुरुत्व के सिद्धांत को जानकर हुई होगी।

वैश्य बोर्डिङ्ग हाउस के जीवन में कुछ देश-भक्ति के संस्कार बन गये थे। स्वदेश के अभिमान के साथ स्वभाषाभिमान भी जाग्रत् हो गया। 'भारतभाल-बिन्दी हिन्दी' की भी चर्चा होने लगी। उन दिनों हिन्दी की नयी-नयी पुस्तकें निकल रहीं थीं। राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर गरमागरम बहस हुआ करती थी। जस्टिस शारदाचरन् मित्र और न जाने किन किन की दुहाई दी जाती थी। देवनागरी अखबार निकलने से राष्ट्र-भाषा का भविष्य उज्ज्वल दिखाई पड़ने लगा था। 'निज भाषा उन्नति अहे सब उन्नति को मूल' का पाठ प्रत्येक देशप्रेमी महाशय के मुख पर था। उस वातावरण में अछूता रहना विशेषकर मुझ ऐसे भावुक हृदय के लिए असम्भव था। हिन्दी के प्रभाव को अग्रसर करने में इटावा के मित्रवर सूर्यनारायण और फीरोजाबाद के सुहृद्वर माधुरी-प्रसादजी का विशेष हाथ था। इन लोगों की श्रद्धा भक्ति संक्रामक

थी। मैंने भी सोचा कि बिना मातृभाषा-प्रेम के बन्दे मातरम् की पुकार अधूरी है। मैं उस समय अंग्रेजी में कुछ लिखने लग गया था, मेरे भेजे हुए एक दो संवाद और शायद दो-एक लेख लीडर में छप चुके थे। फूल वे जो महेश पर चढ़ें। बात वही जो अखबार में छपे। मैं अपने को धन्य समझता था। उस समय तक मुझे हिन्दी लिखने की शक्ति में विश्वास न था। हनूमानजी की तरह मुझे शक्ति की याद दिलाने की जरूरत थी। फीरोजाबाद के भारती-भवन का सालाना जलसा था। पूज्य किशोरीलाल गोस्वामीजी उसके सभापति होने वाले थे, स्वागताध्यक्ष का भार मुझे सौंपा गया। पीछे से वह किन्हीं बृहत्तर व्यक्ति के सुविशाल स्कन्धों पर रक्खा गया। मेरा भाषण तैयार हो चुका था। उसको मैंने स्वागताध्यक्ष के रूप से तो नहीं वरन् एक साधारण सदस्य के रूप से पढ़ा। लोगों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसे किसी अखबार में, शायद 'भारतमित्र' में भेज दिया। मैं गंगा-तुलसी तो नहीं उठा सकता लेकिन मेरा ख्याल है कि वह छप गया था।

दर्शन-शास्त्र का विद्यार्थी होने के कारण मेरे पास विचारों की कमी न थी। राजू साहब ने नई-नई समस्याओं से मेरा परिचय करा दिया था। 'बादल से चले आते थे मजमूँ मेरे आगे।' संस्कृत के चलते ज्ञान के कारण शब्द गढ़ने का कौशल मुझमें आ गया था। अंग्रेजी के रचना सम्बन्धी नियम कुछ जानता था उन्हीं के आधार पर मैं अपनी घन्नई को ख्याति के सागर में तैरा ले गया।

पहले-पहल मेरे लेखों को इलाहाबाद के 'विद्यार्थी' ने अपनाया। यह स्वर्गीय देवेन्द्रप्रसाद जैन की, जिनका परिचय श्री जमुनाप्रसादजी द्वारा हुआ था, कृपा का फल था। पहला लेख साहित्य के क्रम विकास पर था, दूसरा लेख श्री डोवसन साहब

से सुने हुये हेगिल के कला-विवेचन पर था। कलाओं में काव्य के स्थान पर शायद मैंने ही पहला लेख लिखा था। यह १६१२ या १३ की बात है। १६१३ में मैं छतरपुर पहुंच गया था। उसी साल 'शान्ति-धर्म' नाम की मेरी पहली किताब निकली। देवेन्द्र-प्रसाद जैन के प्रकाशन को देखकर मैं मुग्ध हो गया था। जिस प्रकार एक अंग्रेज महिला ताजमहल को देखकर इस शर्त पर प्राण-त्याग करने को तैयार हो गई थी कि उसकी भी कब्र ताज-महल जैसी बना दी जाय, उसी प्रकार मैं भी लेखक बनने को इस शर्त पर तैयार हो गया कि देवेन्द्रप्रसाद के अन्य प्रकाशनों की-सी सजधज के साथ मेरी भी पुस्तक इण्डियन प्रेस में छपवा दी जाय। पुस्तक प्रकाशित तो प्रेम-मन्दिर आरा से ही हुई किन्तु छपी इंडियन प्रेस में। फैदरवेट पेपर और चाँदी के वर्कों के साथ घुटी हुई स्याही के कारण उसका गेटअप बड़ा आकर्षक हो गया था। दूसरी किताब 'फिर निराशा क्यों ?' के नाम से छपी। उसका भी विचित्र इतिहास है। उस समय 'भारत विनय' नाम का मिश्र-बन्धुओं की कविताओं का संग्रह निकला था। उसकी आलोचना में 'भारतमित्र' ने लिखा था कि इसकी पद्य तो ऐसी है जो गद्य के कान काटे। उसी समय मेरे मन में यह बात आई कि मैं गद्य ऐसी लिखूँ जो पद्य के भी कान काटे। इसी प्रेरणा से 'फिर निराशा क्यों ?' लिखी। उस समय गद्य-काव्य का लिखना बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में था। उस पुस्तक का सम्पादन श्री शिवपूजनसहाय ने किया था। इसी ने मुझे हिन्दी के निबन्ध-लेखकों की पंक्ति में बैठने का प्रवेश-पत्र दिलवाया।

श्री सुखदेवबिहारी मिश्र की सिफारिश से मुझे मनोरञ्जन-पुस्तकमाला में तर्क-शास्त्र लिखने को मिला। लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य के सुनने से (उसको श्री वियोगी हरि ने मुझे सुनाने की कृपा की थी) मेरी यह धारणा हुई थी कि भारतीय

दृष्टिकोण से कर्त्तव्य-शास्त्र लिखा जा सकता है। मनोरञ्जक-पुस्तकमाला में एक पुस्तक छप जाने से मैं अपने को लिक्खाड़ समझने लगा और जिस प्रकार चीता एक बार मनुष्य को मार लेता है फिर वह शिकारी बन जाता है—उसी प्रकार मेरी झिझक छूट गई। नागरी प्रचारिणी सभा से मेरा सीधा सम्बन्ध हो गया, उसके लिए तर्क-शास्त्र और पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास लिखा।

अभी तक मैंने दार्शनिक पुस्तकें ही लिखी थीं। छतरपुर की नौकरी के अवसर पर मैनपुरी भी जाया करता था। वहाँ प्रज्ञा-चक्षु श्री धनराज जी शास्त्री से साक्षात्कार हुआ। उनको बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ मुखस्थ थे। उन ग्रन्थों की प्रामाणिकता में तो संदेह है किन्तु उनकी सामग्री बड़ी अपूर्व थी। उन्होंने एक दिन नवरस का विषय छेड़ा। उसमें मुझे बहुत महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सामग्री दिखाई पड़ी। मैंने छतरपुर जाते ही नवरस के विषय का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। उस समय अयोध्या-नरेश के लिखे हुए रस-रत्नाकर के अतिरिक्त हिन्दी-गद्य में इस विषय का और कोई ग्रन्थ न था। इस विषय पर पहला लेख इन्दौर के पहले साहित्य-सम्मेलन के लिए लिखा। उसी को विस्तृत कर पुस्तकाकार कर दिया। अब उसका दूसरा संस्करण भी हो गया है। यंत्रस्थ रहने के समय मुझे उसके दर्शन न होने के कारण उसमें बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गई हैं जिनसे मैं स्वयं तो बहुत लज्जित हूँ, फिर भी समझता हूँ कि पाठक को उसमें कुछ महत्त्व-पूर्ण मनोवैज्ञानिक सामग्री मिल जायगी।

'ठलुआ क्लब' के शीर्षक का सुझाव जेरोम के० जेरोम (Jerome K. Jerome) के Idle Thoughts of an Idler से हुआ था। दोनों पुस्तकों के समर्पण में कुछ समानता है—उसने अपनी पुस्तक अपने चिर-सखा स्मोकिंग पाइप (Smoking pipe) को समर्पित की है, मैंने अपनी पुस्तक

चिर-संगिनी शैया देवी को है। इसके सिवा और कुछ उससे नहीं लिया।

ये पुस्तकें तो स्वान्तःसुखाय लिखीं, शेष पुस्तकों का अधिकांश में 'उदर-निमित्त' निर्माण हुआ। उदर-निमित्त लिखी हुई पुस्तकों में प्रबन्ध-प्रभाकर, हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास, विज्ञान-वार्ता और हिन्दी-नाट्य-विमर्श मुख्य हैं। इन पुस्तकों के लिखने की प्रेरणा इनके सुयोग्य प्रकाशकों से ही मिली। इस प्रकार मैं ठोक-पीट कर लेखकराज बन गया। मैंने ख्याति का उपार्जन छतरपुर रहते हुए ही कर लिया था किन्तु आगरा आकर थोड़ा ज्ञान का सञ्चय किया। अब केवल इतना ही जानना है कि मेरी मदान्धता दूर हो सके। छतरपुर से यहाँ आने पर मुझ पर आचार्य शुक्लजी का बहुत प्रभाव पड़ा। जब तक मैं छतरपुर रहा तब तक विद्या-व्यसनी होने में मिश्र-बन्धुओं--विशेषकर सुखदेवबिहारी--से प्रभावित रहा।

ठोक-पीट कर लेखक-राज

२

(मैं कहानी और कविता क्यों न लिख सका ?)

मैंने अपने जीवन में कोई कहानी नहीं लिखी। इसलिए नहीं कि वह लिखने योग्य चीज नहीं है वरन् इसलिए कि मुझमें कहानी लिखने की योग्यता नहीं। मैं कहानी लिखने को कहानी की लोमड़ी की भाँति खट्टे अंगूर न कहूँगा। वह मेरे लिए विशेष महत्व की चीज़ है। जिस बात को मैं करने में समर्थ होता हूँ मेरी निगाह में उसका महत्व नहीं रहता है। इसलिए मैं कभी-कभी कह देता हूँ कि मैंने अपने जीवन में कोई महत्व का कार्य नहीं किया और न कर सकूँगा क्योंकि जिस कार्य को मैं कर सकूँगा उसको कोई मूर्ख भी कर सकता है। कहानी लिखना उन चीजों में नहीं है। कहानी लेखक एक नई सृष्टि की रचना करता है। वह ग्रामोफोन या टेलीफोन की आवाज़ की भाँति चाहे पहली आवाज़ की प्रतिलिपि ही क्यों न हो किन्तु नई सृष्टि होती है। वह ईश्वर का भी प्रतिस्पर्धी है; वह सच्चे कवि की भाँति रवि की भी पहुँच से बाहर (सन्दूकनुमा मकानों की सील-भरी बन्द कोठरियों में नहीं) असूर्य स्पर्शी (राजमहल की पट-रानियाँ न समझिए) मन की भावनाओं का भी साक्षात्कार कर

लेता है। वह जीवन की आलोचना ही नहीं करता वरन् स्थाली-पुलाक-न्याय (हाँडी के एक चाँवल की भाँति) एक ही मार्मिक घटना में मनुष्य के सारे चरित्र पर विद्युत प्रकाश डाल देता है। यदि मैं कहानी लिख सकता तो ज़रूर लिखता क्योंकि मैं संसार से इतना उदासीन नहीं हूँ कि जो सहज में शक्य हो उसके लिए महत्वाकांक्षा न रक्खूँ। हाँ आकाश के तारे नहीं तोड़ना चाहता।

कहानी लेखक के कुछ स्वाभाविक गुण होते हैं शायद कुछ दोष भी। मैंने पूरा आत्म-विश्लेषण करने का तो उद्योग नहा किया है किन्तु सरसरी तौर से देखने पर दो एक बातों की कमा अवश्य पाता हूँ इसीलिए कहानी लेखक न बन सका।

मैं इतना बड़ा आदमी नहीं हूँ कि लोग मेरी ख़ुशामद करें। यदि मैं होता तो शायद मेरे ख़ुशामदी लोग कहते 'हुज़ूर बड़े सत्य के प्रेमी हैं, कहानी में झूठ-सच सभी रहता है, इसीलिए आप कहानी नहीं लिख सकते और कोई यह भी कह देता कि आपको दूसरों की भलाई-बुराई से क्या काम ? आपको तो अपने काम से काम। यह दोनों ही बातें 'प्रियं ब्रूयात्' तो होतीं किन्तु 'सत्यं ब्रूयात्' से बहुत दूर हैं। मैंने अपने जीवन में काफ़ी झूठ बोला है। अपने प्रतिस्पर्धियों की या जिनकी मैंने प्रतिस्पर्धा करना चाहा है, उनकी (अपने से छोटों की नहीं) भलाई-बुराई भी ऊपर से उपेक्षा भाव दिखाते हुए, परन्तु भीतर से पृथु की भाँति सहस्र-कर्ण होकर सुनी हैं। जैसा लोग समझते हैं, कहानी लेखक झूठा भी नहीं होता, घटना का सत्य नहीं तो भावना का सत्य तो वह एक विशेष बल के साथ कहता है। मेरी असफलता का कुछ और ही कारण होगा।

कहानी लेखक के लिए सब से पहला गुण है--सहृदय निरीक्षण और प्रभावित होने की शक्ति। और दूसरी चीज है--कल्पना

के सहारे उसके आगे पीछे और अन्तर्बाह्य के कुलाबे मिला कर एक तारतम्यपूर्ण कथा को अच्छी भाषा में रूप दे देना। मुझ में निरीक्षण भी है, सहृदयता भी है, और गर्व के साथ कह सकता हूँ कि बहुत से कहानी लेखकों से कुछ अधिक प्रभावित भी होता हूँ किन्तु सहृदयता इतनी बढ़ी हुई नहीं है कि वस्तु के सामने न रहते हुए भी मैं उसकी उधेड़बुन में पड़ जाऊँ। मैं वह सच्चा प्रेमी नहीं जो दूसरों की बात को भी प्रेमिका की बातों का-सा महत्व दूँ। मैं जितना शीघ्र प्रभावित होता हूँ उतने ही शीघ्र वह प्रभाव उड़ जाता है। मैं आवारागर्दी तो काफी करता हूँ, एक जगह न ठहरने में नारदमुनि से बढ़ा-चढ़ा हूँ। किन्तु न तो किसी बात को अन्त तक पहुँचते देखने की मुझ में सावधानी है और न कल्पना को ही इतना कष्ट देना चाहता हूँ कि उसके आगे-पीछे की बात जोड़ दूँ। पल्ले दर्जे का आलसी वही है जो कल्पना को भी कष्ट न दे।

कल्पना करने में मैं नितान्त असमर्थ नहीं हूँ। उपन्यासकार या कहानीकार की भाँति मैं भी आगे-पीछे की कुछ कल्पना कर सकता हूँ, किन्तु जिसको देखा नहीं उसके ब्योरेवार वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ। निशाना लगाने के लिए अर्जुन ने पक्षी की आँख ही देखी थी, उसके लिए और सब अनावश्यक था किन्तु केवल आँख बिना शरीर के नहीं रह सकती। कहानीकार देखता तो आँख को ही है किन्तु वह उस आँख को रेखा-गणित के बिन्दु की भाँति नहीं वरन् शरीर के अङ्ग की भाँति। मैं लक्ष्य को देख सकता हूँ किन्तु मुझ में उसके पहुँचने के मार्ग को देखने का सब्र नहीं। मेरे मन की गति मन की-सी गति रहती है, वास्तविक संसार की-सी गति नहीं होती। मैं आम खाना (अलङ्कारिक और वास्तविक भी) जानता हूँ किन्तु पेड़ गिनना नहीं। पेड़ गिनना चाहे दूसरे के लिए अनावश्यक हो, कहानीकार के

लिए वह भी आवश्यक है। मैं रूप-रेखा चाहे बना लूँ किन्तु उसको मांसल नहीं कर सकता। यह शायद मेरी दार्शनिक दीक्षा का फल हो। मेरे लिए कहानी अब भी बड़ी चीज़ है। जब कहानी और वामनाकार हो जायगी तब शायद मैं भी कहानीकार का गौरव प्राप्त कर सकूँगा।

कौन किस परिस्थिति में क्या कहेगा यह मैं मनोवैज्ञानिक की हैसियत से थोड़ा बहुत जानता हूँ किन्तु परिस्थिति उत्पन्न करने में मेरी कल्पना पंगु रह जाती है। उस पर सरस्वती देवी की वह कृपा नहीं हुई जिससे 'पंगु' लंघयते गिरिम्।' मैं उपस्थित की हुई परिस्थिति में हास्य देख सकता हूँ लेकिन परिस्थिति का निर्माण नहीं कर सकता। इसीलिए मैं अपनी ही कहानी लिखने में सफल हुआ हूँ किन्तु उसमें कोई महत्व की बात नहीं क्योंकि अपनी राम-कहानी तो सभी कह लेते हैं। दूसरों की बात जो कहे वही सच्चा सहृदय और आत्म-त्यागी है।

इसी प्रकार कवि-हृदय पाकर भी मैं कविता नहीं लिख सका। इसका कारण तो यह है कि जब तक गहरी वेदना न हो तब तक कल्पना जाग्रत नहीं होती। बहुत सी बड़ी-बड़ी बातों को मैं दार्शनिक उपेक्षा से देखता हूँ यद्यपि कभी-कभी छोटी-छोटी बातों से मेरे मन की शान्ति विचलित हो जाती है। इसके अतिरिक्त मैं संगीत नहीं जानता। इस कमी के कारण कभी-कभी ठोक-पीट कर मैंने दो एक वर्ण-वृत्त लिख लिये किन्तु मात्रिक छन्द नहीं लिख सका। चार छः गद्य काव्य अवश्य लिखे हैं किन्तु वे मेरे जीवन की अव्यवस्था के कारण संग्रहीत नहीं हो सके हैं।

बोलिए तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तौ तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिए।

ठोक-पीट कर लेखक-राज

३

मेरी कलम का राज

यद्यपि मुझे माता शारदा से इस बात की शिकायत नहीं कि उन्होंने मेरे साथ सौतेले पुत्र का वर्ताव किया; 'कुपुत्रो जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति,' तथापि मैं इतना बड़ा आदमी नहीं कि बहुत से कलाकारों की भाँति कह सकूँ कि मेरी कविता का सबसे बड़ा राज यह है कि उसमें कोई राज नहीं है। कलम में कोई राज न होना सरस्वती देवी की विशेष कृपा का फल होता है। वह कृपा शायद इसीलिए न हो सकी कि मेरे पास उनके हंस को खुश करने के लिए मोती न थे और मैंने कहीं मूर्खता-वश पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के उस लेख की प्रशंसा कर दी थी कि जिसमें उन्होंने सिद्ध किया था कि नीर-क्षीर अलग करने की बात चाहे कवि-'कल्पना'-लोक में सत्य हो किन्तु वास्तविक जगत् में ठीक नहीं है। फिर सरस्वती देवी की कैसे कृपा होती, क्योंकि देवता लोग भी आजकल के नेताओं और अफसरों की भाँति वाहनाधीन हैं। 'वाहनाधीनं जगत्सर्वं,' अस्तु मुझे इतनी ही कृपा से सन्तोष है, क्योंकि जो कुछ मैं कर सका हूँ वह भी उनके अनुग्रह का ही फल है।

आपने मुझ से मेरी कलम का राज पूछने की कृपा की यह बात भी पुण्यैर्विना न लभ्यते। मैंने पढ़ा बहुत थोड़ा है मुझमें इतनी चालाकी अवश्य है कि बगुला होता हुआ भी प्रायः हंसों को भी धोका दे देता हूँ। इसमें कुछ भाग्य भी सहारा देता है। हमेशा तो नहीं, कभी-कभी ऐसा होता है कि किताब के पन्ने पलटते-पलटते कुछ ऐसी बात मिल जाती है जिसको मैं लेखक के हृदय की कुञ्जी कहता हूँ। मुझ में इतनी सावधानी नहीं कि पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ूँ। संसार में ऐसी थोड़ी ही पुस्तकों को गौरव मिला है जिनको मैंने, अथ से इति तक पढ़ा हो। जब तक लेखक के हृदय की कुञ्जी नहीं मिलती तब तक मैं परेशान-सा भी रहता हूँ और मुझे समय के अपव्यय पर झूँझल आने लगती है।

संक्षेप में यह कह सकता हूँ कि मुझे चोरी की कला आ गई है। मुझे दूसरों की कृतियों में बिना ताला तोड़े या एक्स-रे का प्रयोग किये ही रत्न मिल जाते हैं। रत्न अपने ही प्रकाश से प्रकट हो जाते हैं। उन रत्नों को मैं वैसा ही बाजार में नहीं ले जाता, उनको थोड़ा-बहुत गढ़ता हूँ जिससे पहचान में न आवें और सम्भव है कि वे इस प्रयत्न में थोड़े-बहुत विकृत भी हो जाते हों लेकिन मेरी चोरी आज तक पकड़ी नहीं गई। बस मेरे जीवन की यही सफलता है। संस्कृत में चोरी कला के कई ग्रन्थ हैं—ऐसा मैंने सुना है। पढ़ा तो है मैंने केवल मृच्छकटिक नाटक में 'शर्विलक' चोर की कला का हाल। डीक्विन्सी De Quincey या और किसी विदेशी लेखक ने अपने Murder as a Fine Art नाम के निबन्ध में हत्या को कला का रूप दिया है। बिना किसी चोरी के कोर्स को लिए, और बिना कन्सेशन रेट की पाँच गिनी खर्च किये, तथा बिना भगवान स्वामिकार्तिकेय को, जो चोरों के आराध्य देव हैं, खुश किये, मैंने चोरी के मूल सूत्र जान लिये हैं। वे इस प्रकार हैं (१) माल की थांग लगाना (२) मालिक

को बिना जगाये माल को हथियाना। (३) हथियाये हुए माल का रूप बदल कर उसे बाजार में चला देना—यद्यपि ये बातें देखने में सरल प्रतीत होती हैं तथापि ये भी 'अभ्यासेन तु कौन्तेय परिप्रश्नेन सेवया' ही सिद्ध हो सकती हैं। पूर्वजों के पुण्य प्रताप से मुझे यह विद्या सिद्ध हो गई है।

अगर अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना बुरा न समझा जाय तो मैं कह सकता हूँ कि मेरी रचनाओं में तार्किक क्रम अधिक रहता है। यह मेरे दार्शनिक संस्कारों का फल है। इसी दार्शनिकता के कारण मेरी रचनाओं में अनावश्यक बातें नहीं आने पातीं। मैं अपनी अल्पज्ञता के कारण अपने लेख को अधिक पाण्डित्यपूर्ण भी नहीं बना सकता। इसलिए साधारण बुद्धिवाले लोगों में मेरी कलम का मान है। भाषा में आडम्बर की मात्रा बहुत कम रहती है, हाँ अगर हास्य का पुट देना हो तो बात दूसरी है। अब मैं प्रायः गम्भीर बातों में भी हास्य का समावेश करने लगा हूँ। जहाँ हास्य के कारण अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना हो अथवा अत्यन्त करुण प्रसङ्ग हो तो मैं हास्य से बचूँगा अन्यथा मैं प्रसङ्गागत हास्य का उतना ही स्वागत करता हूँ जितना कि कृपण क्या कोई भी, अनायास आये हुए धन का और मुझे हास्य का एक पुट देने में उतनी ही प्रसन्नता होती है जितनी कि प्राचीन समय के सूत्रकारों को एक अक्षर या मात्रा के बचाने में। हां इतना अवश्य है कि उन लोगों ने जो प्रसन्नता का परिमाण रक्खा था वह (यानी पुत्र-जन्म) आज कल सन्तान-निरोध के दिनों में विशेष सार्थकता नहीं रखता।

हास्य का पुट देने के लिए मुझे विशेष प्रयत्न तो नहीं करना पड़ता किन्तु अब मैं अपने हास्य की टेकनीक समझ-सा गया हूँ और कभी-कभी उसे सप्रयत्न भी उपस्थित कर सकता हूँ। मेरे हास्य में खास बात यह है कि मैं कहावतों और संस्कृत के

अवतरणों में अपने मतलब के अनुकूल हेर-फेर कर एक सुखद परिवर्तन पैदा कर देता हूँ, जैसे रघुवंशियों के लिए कालिदास ने कहा है : 'योगेनान्ते तनुःत्यजाम्'। मैंने आजकल के लोगों के लिए कह दिया, रोगेणान्ते तनुः त्यजाम्। कभी द्व्यर्थक शब्दों से भी हास्य की झलक ला देता हूँ। जो कुछ (रुपया) जमा था वह अब खेत में जमा है। कभी मुहावरों के लाक्षणिक अर्थ को अभिधा के ही अर्थ में व्यवहृत कर चमत्कार उत्पन्न कर देता हूँ, जैसे अधिक वर्षा के कारण मेरा बगीचा नष्ट हो गया तो मैंने लिखा कि मेरी मेहनत पर पानी पड़ गया, और जब पपीते में फल हुआ तो मैंने लिखा कि मेरी मेहनत सफल हो गई। मेरी काशीफल की बेल में फल नहीं आये तो मैंने गीता का वाक्य लिख दिया 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' कभी-कभी प्राचीन कथाओं का भी प्रयोग कर देता हूँ। मेरे हास्य में साहित्यिकता अधिक रहती है। धौलधप्पा और गिरने-पड़ने और घसीटने वाली हास्यमय परिस्थितियों के उत्पन्न करने में मैं असफल रहता हूँ। उर्दू-फारसी के शब्द और मुहावरे भी कभी-कभी पूर्वजन्म में किये हुए पुण्य की भांति सहायक होते हैं; क्योंकि फारसी का अध्ययन छोड़े प्रायः एक युग हो गया। हास्य का मूल रहस्य है बेमेल बातों का मिलाना, जैसे कहाँ पूर्व जन्म के पुण्य और कहाँ स्कूल में पढ़ी हुई फारसी-उर्दू ?

मैं लिखता तो बिना बिचारे ही हूँ, कभी-कभी पछताना भी पड़ता है लेकिन बहुत कम। लेख के प्रारम्भ में थोड़ा अवश्य परिश्रम कर लेता हूँ। मेरे लेख में काट-छाँट और घटा बढ़ी भी होती है बीच में से ऐरो (Arrow) लगाकर जोड़ा भी अधिक जाता है ; इस कारण अक्षर-ब्रह्म को उँगलियों पर नचाने वाले कम्पोजीटर लोग मेरे लेखों से बहुत परेशान रहते है। मैंने उन लोगों की प्रसन्नता के लिए एक स्तोत्र भी लिखा है। बीच में

ऐरो लगाकर बढ़ाने का कारण है। संगति ठाने के लिए, पीछे से ध्यान में आये हुए वाक्य को यथास्थान ही रखना चाहता हूँ। बिना काटे मैंने बहुत कम लिखा है, फिर भी उसमें गलती रह जाती है। वे गलतियाँ कभी तो मेरी ही होती हैं और कभी उनके लिए प्रेस के भूत बलिदान के बकरे बना दिये जाते हैं। जहाँ प्रेस के भूतों की वास्तविक गलती होती है वहाँ मुझे झूँझल आती है। फिर यही सोचकर रह जाता हूँ कि कभी अपनी भूल को उनके सर मढ़ देता हूँ तो उनकी भूल को अपने ऊपर क्यों न लूँ? 'कभी लढी नाव पर और कभी नाव लढी पर।' मेरी प्रेस कापी दूसरों की रफ कापी को भी लज्जित करती है। सफे अस्त-व्यस्त होने के कारण खो भी जाते हैं। यह जानकर संतोष होता है कि भगवान पातञ्जलि के महाभाष्य के पन्ने जो कि पीपल के पत्तों पर लिखे हुए थे, बकरी चर गई थी। उनके सामने मेरी पुस्तकों की क्या गणना?

मेरी शैली में वहुत से दोष हैं जो कभी-कभी उसके गुणों को दबा लेते हैं। मैं अपनी भाषा को आडम्बर-पूर्ण बनाने से बचाता हूँ। लेकिन सरल भापा को गौरवशालिनी बनाना मुझे नहीं आता। इसी कारण मेरी भाषा में शैथिल्य आ जाता है। कभी-कभी पुनरुक्ति दोप से भी दूषित हो जाती है। क्योंकि पुनरुक्ति के भय से मैं रामनाम भी कम लेता हूँ फिर भी पुनरुक्ति से बचता नहीं। चाहिये, चाहिये लगातार कई वाक्यों में चले आते हैं। अब तो चाहिए के स्थान में बांछनीय आवश्यक आदि लिखकर एकतानता को बचा जाता हूँ। ऐसे बहुत से दोष होते हुए भी लोगों ने मेरे लेखों को पढ़ने योग्य समझा है। इसका यही कारण है कि मैं कहने के लिए कुछ तथ्य की बात खोजता हूँ और उसे येन-केन प्रकारेण पूर्णतया हृदयङ्गम कराने का प्रयत्न करता हूँ। उसमें हास्य का पुट देकर उसे ग्राह्य बना देता हूँ। यही मेरी कलम का राज है।

परिशिष्ट १

(चोरी : कला के रूप में)

नाम बुरो पै अधीन न काहू के, चोरी भली न भली सेवकाई।
द्रोण के पुत्र युधिष्ठिर सेन के, मारन के हित सेंध लगाई॥

जब मैं एम० ए० में पढ़ता था उस समय मेरा विषय तो दर्शन-शास्त्र था लेकिन जौक या गालिब की शराब की भाँति गाहे-गाहे (कभी-कभी) मुँह का जायका बदलने के लिए या यों कहूँ कि मस्तिष्क को काण्ट के क्रिटीक से, जिसका अध्ययन लोहे के चने चबाने से कुछ कम न था, विश्राम देने के लिए माँगी हुई या कबाड़िये से खरीदी हुई अँगरेजी साहित्य की पुस्तकों में चञ्चु-प्रहार कर लेता था। ऐसी ही किसी किताब में डी क्विन्सी का Murder as a fine art शीर्षक लेख जिसमें हत्या को कला का रूप दिया गया था मेरी निगाह से गुजरा। उसकी भाषा राजपथ की भाँति सुगम न थी, इस कारण किसी फुर्सत के दिन के लिए उसे चलतू खाते से बाहर उन पुस्तकों के साथ, जो बिचारी अलमारी में पड़ी-पड़ी मेरी सुदृष्टि की बाट जोहा करती थी, रख दिया। किन्तु उस पुस्तक के सम्बन्ध में कान पर जूँ तक न रेंगा। जूँ रेंगता भी क्यों ? ईश्वर की कृपा

से धनी न होता हुआ भी मुझमें धनियों का विशेष गुण मौजूद था 'क्वचित खल्वाट् निर्धनी'। पं० रामनरेश त्रिपाठीजी के मत से यह गुण बाबा तुलसीदासजी में भी था क्योंकि उन्होंने कहीं लिखा है कि पितरों के पिण्डों के साथ ऊनके स्थान में रखने के लिए सर में बाल भी नहीं हैं। वैसे तो तुलसीदासजी अपनी दीनता दिखाने में ऐसी दून की हाँका ही करते हैं किन्तु मुझे सन्तोष है कि कम से कम एक बात में तो उनकी बराबरी कर सकूँगा।

इस विषयान्तर को क्षमा कीजिए क्योंकि तुलसीदासजी की बराबरी करने का मोह संवरण न कर सका। अस्तु वह लेख पढ़ा तो नहीं लेकिन उसके शीर्षक ने मेरे हृदय में स्थान पा लिया उस समय मैं चोरी की कला में बहुत प्रवीण तो न था लेकिन मन में इरादा यह कर लिया कि इसका कभी लाभ उठाऊँगा। उसको जैसे के तैसे हथियाने में चोरी सहज में प्रकट होने का भय तो था ही किन्तु एक और आपत्ति थी। मैं हिन्दू हूँ 'हिंसया दूयतेऽति हिन्दू' इसके अतिरिक्त मेरे पूज्य पिताजी ने वैष्णव धर्म की कुछ मूल शिक्षाओं को मेरे मस्तिष्क में चोनी औषधि के विज्ञापन की भाँति कील ठोक-ठोक कर भर दिया था। फिर 'अहिंसा परमोधर्मः' मानने वाले जैनियों के सत्संग से वह शिक्षा उसी प्रकार पक्की हो गई जैसी हाइपो सोल्यूशन में पड़कर फोटोग्राफी की नेगेटिव प्लेट। 'करेले और नीम चढ़े' की सी बात से भी ज्यादा हो गई। बनिया और हत्या को कला का रूप दे, राम, राम! सारी आत्मा विद्रोह करने लगी, चित्तचोर और माखनचोर भगवान श्रीकृष्ण की जिनको विष्णु सहस्र नाम में 'चोरजारशिरोमणि' कहा है, भक्ति के कारण मुझे चोरी को कला का रूप देना कुछ अपेक्षाकृत निरापद जँचा क्योंकि धन की चोरी तो शायद नहीं विचारों की चोरी किया ही करता हूँ।

यदि किसी को जेल जाने की सामर्थ्य हो तो चोरी के बराबर कोई दूसरा पेशा नहीं क्योंकि इसमें सरकार की भी मदद रहती है, वह हमेशा जेल भेजकर प्रतिद्वन्द्वियों को कम करती रहती है। वकालत की तरह यह पेशा कभी अति भीड़ over Crowdedness) के रोग से ग्रसित नहीं होता।

इसमें प्रचण्ड मार्तण्ड की प्रखर रश्मियों के आघात से बचे रहने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। धूप से रंग काला पड़ जाने का भय नहीं रहता, अमा निशा की शीतल-मेचक छाया माता की भाँति रक्षा करती है। 'रैन माय सी मोहिं अङ्क लावति' और सहज में ही संयमी का परम स्पृहनीय पद प्राप्त हो जाता है 'या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'। अगर माल हाथ लगा तो कुछ दिन मौज से खाया और यदि पकड़े गये तो सम्मानपूर्वक जेल की चहार दीवारो में सुरक्षित रहकर मशक्कत और पसीने की कमाई खाई। वहाँ न तो कोई जरिये माश पूँछेगा, और न कोई भिखमंगा कहेगा। इस पेशे के लोगों को कभी दूसरों के आगे दीन होकर हाथ नहीं पसारना पड़ता। 'माँगिबो भलो बाय सों जो विधि राखे टेक।' माँगकर करे तो क्या? माँगे से कुछ मिलता भी नहीं और ईमानदारी करने में कभी-कभी ऊने के दूने देने पड़ते हैं। बाबा तुलसीदासजी को भी सज्जनता का कटु अनुभव हुआ होगा, तभी तो उन्होंने लिखा है 'सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसत खलई है' फिर कोई ऐसे कण्टकमय मार्ग का क्यों अनुसरण करे जिसमें सीदना पड़े? चोरी की आमदनी को न इनकमटैक्स का भय और न चन्दे का।

चोरी को कला का रूप देने में मैं अकेला नहीं हूँ। संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध नाटककार महाकवि शूद्रक हमलोगों का पथ-प्रदर्शन बहुत पूर्व ही कर चुके हैं। उन्होंने अपने मृच्छकटिक

टक में शर्विलक के मुख से चोरी को वास्तव में कला का ही दिखाया है। शर्विलक बड़ा कलाप्रिय है। वह सेंध लगाने भी तो अपनी कला-प्रियता नहीं छोड़ता है। वह नपी-तुली मिति के आकारों की भाँति चित्रोपम सुडौल सेंध लगाता है असे कि सुबह के समय सेंध देखने वाले उसकी कला की प्रशंसा देखिए:—

"तो कहाँ से सेंध फोड़ूँ (भीत छू कर) नित सूर्यनारायण अर्घ का पानी पड़ते-पड़ते यहाँ की मिट्टी खुद सी गई है और नें ने यहाँ कुछ खोद सा डाला है, अब हमारा काम सिद्ध हो। स्कन्द देवता के पुत्रों की सिद्धि का पहला लच्छन यही तो अब कैसे सेंध फोड़ूँ ? कनकशक्तिजी ने चार रीतियाँ फोड़ने की कही हैं—पक्की ईंटों को खींच लेना, कच्ची को देना, गोंदे को भिगो देना, और काठ को काट डालना। तो पक्की भीत है एक ईंट हटाऊँ—

खिले कमलसम, कूप सरिस, नवचन्द्र अकारा।
स्वस्तिक, पूरनकुम्भ, सूर्य सम सन्धिप्रकारा॥
खोदि सेंधि मैं प्रकट करौ अपनी चतुराई।
भोर देखि जेहि चकित होयँ सब लोग लुगाई॥"

[श्रीअवधवासी भूपकृत मृच्छकटिक नाटक के भाषानुवाद से]

चोरी में बल और विद्या दोनों से ही काम चलता है। आजकल के चोर तो सेफ गलाने के लिए आक्सी-हाइड्रोजन-म भी साथ ले जाते हैं। खैर पुराने जमाने का शर्विलक हता है—

ल विद्या दोउ संग लगाई। तन प्रमान निज सेंध बनाई॥
सरकत चलौ घसत निज अंगा। कैचुल छाँड़त मनहुँ भुजंगा॥

यह चोर दीपक बुझाने के लिए कीड़ा साथ रखता था और

घर के लोग सोते हैं या जागते हैं इसकी परीक्षा इस प्रकार करता है—

'चलत बराबर साँस नहीं शङ्का कछु लागै।
मुँदी आँखि नहीं सिथिल भाव पुतरी निज त्यागै॥
ढीलो परो शरीर कछु शैया के बाहर।
दीप सहै नहिं सौंह करै सोवत छल जो नर॥'

अब अपने मित्र शर्विलक की एक गर्वोक्ति भी सुन लीजिए—

'झपटा के मारन में चील्ह के समान हम,
जल्दी जल्दी भागिबे में मृग सों न कम है।
सोये जागे चीन्ह लेत कूकुर की नाईं नित,
बिल्ली के से पायँ मेरे चलत नरम हैं।
माया रूप धारन में साँप से हैं सर्कन में,
देश भाषा जानन में बानी के सम है।
संकट में डुडुम, तुरंग है सुथल पर,
जल बीच नाव रात दीपक हू हम है।
गिरि सम थिर, भाजन भुजग, झपटन में हम बाज।
पकरन वृग, इत उत लखन शश, बलमँह मृगराज॥'

परिशिष्ट २

(कम्पोज़ीटर-स्तोत्र)

देवाधिदेव ! जिन आदि कारण-स्वरूप भगवान का कभी क्षय अर्थात् नाश नहीं होता, जिनके तेजोमय गर्भ से चराचर अखिल विश्व का उदय होता है और जिनके अनन्त वक्षःस्थल में स्थित रह कर वह प्रलय की शान्त निद्रा में मग्न हो जाता है, वे ही अक्षर ब्रह्म 'छछिया भर छाछ' के बिना ही आपके अंगुल्याग्र भाग में सदा नृत्य करते रहते हैं। वे पूर्णतया आपके शासन में बँधे हैं। जब आप उन्हें उठाते हैं, तब वे उठते हैं, और जब और जहाँ आप बैठाते हैं, तब और तहाँ वे बैठ जाते हैं। वे आपके आदेश के बिना टस-से-मस नहीं करते। आपके ही कारण वे फर्मे के बन्धन में पड़ते हैं।

जब आप डिस्ट्रीब्यूटर (Distributer) रूप से उनको अपने कर-पल्लव में धारण कर 'गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ स्वस्थाने सुखी भव' का मन्त्र पाठ करते हैं, तब वे अक्षर भगवान प्रसन्नतापूर्वक कबूतरखाने से केस के खानों में अपने-अपने स्थान को प्राप्त हो विराजमान हो जाते हैं। धन्य है आपका प्रभावपूर्ण शासन ! धन्य है आपका विश्वव्यापी आतंक ! वैसे तो क्षीरसागर

भी आपके कर-नखाग्रों से|सदा प्रवाहित होता रहता है (क्‍ संसार में बेपढ़ों की संख्या बहुत है, और उनमें से प्रत्येक के लि प्रत्येक काला अक्षर भैंस के बराबर होता है), तथापि आपके कर-पल्लवों में नृत्य करने वाले अक्षर भगवान घोर तप : कारण शेष-शय्या के स्थान में अव्यक्त रूप से तप्त सीसा (Lead शय्या पर शयन करते हैं। वे व्यक्त होकर 'नियतिकृतनियम-रहितां' ब्रह्मा की सृष्टि के नियमों से परे रहने वाली रुचिर रचनाओं की सृष्टि करने लग जाते हैं। आपकी रची हुई सृष्टि ब्रह्मा की सृष्टि का शासन करती है। विचारों से ही संस चलता है, और आपके बिना बेचारे विचार मूक और पंगु प रह जाते हैं।

विश्व-सूत्राधार! विश्व का शासन आप ही के वश में है। विश्व की राजनीति और धर्मनीति समाचार-पत्रों और धर्म-ग्रन्थों के अधीन है, और वे सब आपके अधीन हैं। तस्मात् कम्पोजी-टराधीनं जगत्। अतः विश्व-शासक जगत्-नियन्ता, राष्ट्रों के विधायक, धर्म के रक्षक और पोषक आपको शतशः सहस्रशः लक्षशः कोटिशः नमस्कार है।

भगवन्, आप भुवनभास्कर सूर्यरूप हैं! नहीं, नहीं, आपका कार्य सूर्य से कहीं अधिक बढ़कर है! 'जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि', और आप उस कवि के भी हृदय-कुहर की गुप्त गुप्त भावनाओं को प्रकाश में लाते हैं। भगवान मरीचिमालि सूर्यदेव के पार्थिव अवतार प्रकाशकगण बड़े दैन्य भाव से आपका मुख जोहते रहते हैं। वे आपकी फुर्सत की सदा प्रतीक्षा करते हैं। आपके आगे मैनेजर का ज़र और एडीटर की टरटर कुछ नहीं चलती। आपके हाथ-पैर चलाने से ही सबका चालू होता है।

प्रभो! बिना आपकी कृपा-कटाक्ष के स्वयं हंसवाहिनी

सरस्वती के वात्सल्य भाजन मूक बने रहते हैं। मूक को आप वाचाल बनाते हैं, आप ही कृपा के बल पर साधारण प्रतिभा वाले भी प्रोपेगेण्डा की नसैनी लगा कर यश के उच्चतम शिखिर पर पहुँच जाते हैं और आपका प्रेस न जाने कितने दोषियों को निर्दोष बना देता है।

मूक होहिं वाचाल पंगु चढ़ै गिरिवर गहन,
जासु कृपा सु दयाल, द्रवौ सकल कलिमल दहन।

आप ही वीणापुस्तकधारिणी भगवती शारदा की वीणा के तारों को मुखरित और झंकरित करते हैं। आप ही अपने विशाल विद्युत्विनिन्दित क्षिप्र और चंचल कर-पुटों द्वारा देश-विदेश में वाग्देवी का विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर देते हैं। आपके कर-पल्लवों से निकली हुई बात पत्थर की लकीर से भी दृढ़ हो जाती है। वह ब्रह्माक्षरों की भाँति अमिट होकर आप्त प्रमाण की श्रेणी परिगणित होता है।

दयानिधे! आप लेखकों के जीवन-प्राण हैं। आप उनके एकमात्र त्राण, शरण्य और वरेण्य हैं। आप प्रेस के भूत का लोकोपकारी स्वरूप धारण कर लेखकों के लेख-सम्बन्धी ज्ञान से किये हुए, अथवा अज्ञान से किये हुए समस्त पापों को अपने सुविशाल स्कन्धों पर धारण कर उनको व्याकरण की हत्या के अपवाद से मुक्त कर देते हैं। आप अपने प्रेस की अमिट कालिमा से लेखकों का मुख उज्वल कर देते हैं। अपने वलिदान से दूसरों का भार हलका करना इसी को कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी दिव्य दृष्टि से आप ही को लक्ष्य कर नीचे की चौपाइयाँ लिखी थी—

साधु चरित शुभ सरिस कपासू। निरस विशद गुणमय फल जासू॥
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहि जग यश गावा॥

भक्तवत्सल! आपके कहाँ तक गुण गाऊँ? आप ही लक्ष्मी

और सरस्वती का वैमनस्य थोड़े-बहुत अंश में दूर कर देते हैं। आपके अप्रतिम आतंकवश वे अपने स्वाभाविक विरोध को भूल जाती हैं।

योगिराज! आप वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्म की भाँति संसार के मूल कारण होते हुए भी सदा निर्लिप्त और अविकृत रहते हैं। आप पद्मपत्रमिवाम्भसि' (जल में कमल के पत्ते) की उक्ति को पूर्णतया चरितार्थ करते हैं, संसार के लड़ाई-झगड़े, शुभ और अशुभ संवाद, प्रेमलाप और तीव्राति तीव्र व्यंगबाण, पण्डितों का पांडित्य और मूर्खों का मूर्खत्व आपकी अनन्त शान्ति को विचलित नहीं कर सकता। सब कुछ आपके करतलगत हो जाने पर भी आप जैसे के तैसे शुद्ध-निर्लिप्त बने रहते हैं। आप शान्ति के स्वरूप और उदासीनता के अवतार हैं। आपके निर पेक्ष स्वरूप को बारम्बार नमस्कार है।

भगवन्! आपकी सीसे से सुदृढ़ गुणगरिमा का कहाँ गान करूँ? आपके कर-पल्लवों से जितने समाचार-पत्र, पुस्तकें, पुस्तिकाएँ, विज्ञापनादि निकले होंगे, वे कई बार पृथिवी को आवेष्टित कर लेंगे। वे सब अनन्त जिह्वा होकर उच्च स्वर से आपका गुणगान गाते हैं। वास्तव में आपका कीर्ति-पत्र उर्वी (पृथिवी) से कई गुना विस्तृत है, और उसे स्वयं शारदा माता कल्पना के कल्पतरु की लेखनी द्वारा लिखती रहती हैं, 'तदपि तवगुणानांमीश पारं न याति'।

देवेश! यह तुच्छ जीव आपसे क्या माँगे, यदि आप प्रसन्न होकर मुझे कुछ वर देना ही चाहते हैं, तो उदारतापूर्वक यह वर दीजिए कि जो कोई समाहित चित्त होकर मेरे बनाये हुए स्तोत्र को दिन में एक बार भी पाठ किया करेगा, उसको तीनों काल में समालोचकों की बाधा न व्यापेंगी। ओ३म् शान्ति शान्तिः शान्तिः।